प्रथम अध्याय: कश्मीर: एक ऐतिहासिक यात्रा

i. कश्मीर: मिथक और इतिहास

ii. कश्मीर: सामाजिक-सांस्कृतिक विरासत

iii. कश्मीर: राजनैतिक इतिहास (1947-1990)

प्रथम अध्याय: कश्मीर: एक ऐतिहासिक यात्रा

i. कश्मीर: मिथक और इतिहास:

भारत में ऐतिहासिक एवं मिथकीय विवरणों को आधार बनाकर काव्य लिखने की परंपरा प्राचीन है। न केवल ऐतिहासिक ग्रन्थ अपितु विभिन्न शिलालेख, अभिलेख, मंदिरों एवं गुफाओं की दीवारों पर अंकित चित्रों एवं ताम्रपत्र आदि ऐतिहासिक चिंतन परंपरा के उदाहरण हैं।

भारतवर्ष में कश्मीर एक ऐसा प्रदेश है जो इतिहास, साहित्य, दर्शन और सांस्कृतिक दृष्टि से बहुत समृद्ध है। कश्मीर में हिन्दू, इस्लाम एवं बौद्ध तीनों धर्मों का प्रभाव रहा है। अत: कश्मीर के उदय संबंधी कथाएं तीनों धर्मों में अपनी-अपनी मान्यताओं के अनुसार उपलब्ध हैं। इन कथाओं को मिथकीय परिप्रेक्ष के अंतर्गत ही रखा जा सकता है। ये कथाएं निम्नवत हैं-

नीलमुनि द्वारा रचित 'नीलमत पुराण' में कश्मीर उत्पत्ति की कथा कुछ इस प्रकार है, "कल्प के प्रारम्भ से ले कर छः मन्वन्तरों तक कश्मीर की भूमि पर छः योजन' लम्बी और तीन योजन चौड़ी सतीसर नामक विशाल झील थी। सातवें मन्वन्तर में लोगों को पीड़ित करने वाले, जल में छिपे हुए दैत्य जलोद्भव को मारने के लिए अन्य देवी-देवताओं के साथ वहाँ आए भगवान विष्णु के आदेश पर अनन्त ने अपने हल से रास्ता बना कर झील को जलरहित कर दिया। इसी कथा में आगे चल कर उल्लेख मिलता है कि जलोद्भव की मृत्यु के पश्चात् कश्यप ने वहाँ के मूल निवासी नागों के साथ मानवों और पिशाचों को वहाँ बसाया।"[1] (श्लोक 12, 13, 171-180, 205-221) इस कथा के अनुसार कश्मीर घाटी को बसाने का श्रेय कश्यप ऋषि को है। 'नीलमत पुराण' में केवल कश्मीर के उदय संबंधी कथा नहीं है बल्कि इस ग्रन्थ में कश्मीर संबंधी धार्मिक कथाओं, भोगौलिक स्थिति, विभिन्न जनजातियां एवं उनका आचार-व्यवहार, सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति आदि का भी विस्तृत चित्रण किया गया है।

कश्मीर के उत्पत्ति की एक दूसरी कथा जो इस्लाम से संबंधित है उसमें कश्यप ऋषि की जगह

काशेफ़ है जिसने झील का पानी सुखाया था। यह कथा 'बेदिया-उद-दीन' की है और "he begins with the creation, and brings Adam from Sarandip, where all Muhammadan authorities place him after the fall, to Kashmir. The sovereignty of Kashmir continued in the line of Seth for 1110 years, when the Hindus conquered the Province under Harinand Raja, and his family ruled it till the period of the deluge. After the flood Kashmir was peopled by a tribe from Turkestan. The inhabitants were taught the worship of one God, by Moses, who died there, and whose tomb or place of sepultureis still to be seen in Kashmir."[2]

तीसरी कथा बौद्ध धर्म से संबंधित हैं। इस कथा के अनुसार, "कश्मीर मूलतः एक झील थी जिसमें नाग रहते थे। जब बुद्ध उदयन के कुटिल नाग को वश में करके हवाई मार्ग से (उड़ते हुए) मध्य भारत की तरफ़ जा रहे थे तो कश्मीर के ऊपर से उड़ते हुए उन्होंने अपने शिष्य आनंद से कहा कि 'मेरी मृत्यु के बाद एक अर्हत मध्यान्तिक यहाँ लोगों को बसाकर एक देश की स्थापना करेगा और फिर इस इलाक़े में बौद्ध धर्म का प्रसार करेगा।' बुद्ध की मृत्यु के 50 वर्ष बाद आनंद के शिष्य मध्यान्तिक ने यह बात सुनी और प्रसन्न हुआ।...बुद्ध के कहे अनुसार वह कश्मीर गया वहाँ एक जंगल में अपनी पीठ बना ली। उसके चमत्कारों से प्रभावित होकर नागप्रमुख ने उससे उसकी इच्छा पूछी। मध्यान्तिक ने झील में अपने घुटनों भर की जगह मांगी...नाग ने उसकी इच्छा मान ली। मध्यान्तिक ने चत्मत्कार से अपनी देह विशाल कर ली और नाग ने झील का पूरा पानी सुखा दिया।"[3] इसके बाद मध्यान्तिक ने कश्मीर में बौद्ध धर्म का प्रचार-प्रसार किया।

उपरोक्त आधार पर कहा जा सकता है कि कश्मीर के उदय संबंधी तीन अलग-अलग कथाएं मिलती हैं जिनमें अंतर होने के बावजूद एक बात समान रूप से पाई जाती है कि इनमें कश्मीर प्रदेश की उत्पत्ति झील अथवा पानी से जोड़ी गई है।

यानी यह माना गया है कि एक बड़ी झील के सूख जाने अथवा उसका पानी निकल जाने के बाद कश्मीर प्रदेश की उत्पत्ति हुई है। भू-वैज्ञानिकों का भी यह मानना है कि भूकंप अथवा पानी के कटाव से झील अथवा नदी का पानी बह जाने के बाद कश्मीर घाटी का निर्माण हुआ है। जैसा कि एम.जे. अकबर लिखते हैं "a great lake once did exist, a post Ice Age earthquake did shatter the mountains and dry the Valley."[4]

कश्मीर की उत्पति की इन कथाओं के साथ कश्मीर का आरंभिक इतिहास भी मिलता है। जिसके संबंध में भारतेंदु हरिश्चंद्र लिखते हैं, "भारतवर्ष में यही एक देश है, जिसका इतिहास श्रृंखलाबद्ध देखने में आता है।"[5] और इस इतिहास-लेखन में सबसे पहला नाम कल्हण और उनके ग्रन्थ 'राजतरंगिणी' का आता है। पंडित जवाहर लाल नेहरु इस ग्रन्थ के संबंध में लिखते हैं, "Kalhan's book is something far more than a record of kings' doings. It is a rich storehouse of information, political, social, and to some extent, economic."[6] कल्हण ने 'राजतरंगिणी' में नीलमत पुराण में उद्धृत कश्मीर की उत्पत्ति-कथा की चर्चा करते हुए महाभारतकालीन राजा गोनंद से लेकर अपने समकालीन राजा जयसिंह, जिनका शासनकाल काल 1128 ई. के लगभग था, के इतिहास को शामिल किया है।

'राजतरंगिणी' आठ खण्डों में विभाजित है। इन खण्डों को तरंग कहा जाता है। 'राजतरंगिणी' की भाषा संस्कृत और शैली काव्यात्मक है। इस ग्रन्थ में कल्हण ने महाभारतकालीन राजाओं, गोडीयन वंश, कर्कोट वंश, उत्पल वंश, लोहार वंश आदि के शासनकाल को समेटा है। कल्हण के इतिहास-लेखन की यह विशेषता है कि अपने ग्रन्थ में उन्होंने किसी एक राजा को नायक बनाकर चरित्र चित्रण नहीं किया है बल्कि 'कश्मीर प्रदेश' का इतिहास लिखा है। राजशेखर के अनुसार इतिहास के दो प्रकार है। पहला, परिक्रिया जिसमें नायक कोई एक व्यक्ति होता है। दूसरा, पुराकल्प जिसमें कई नायक होते हैं। अर्थात् कई मुख्य चरित्र होते हैं। इस आधार पर देखे तो कल्हण की 'राजतरंगिणी' पुराकल्प की श्रेणी में आती है। इसके केंद्र में कोई एक नायक नहीं

अपितु राजाओं के शासनकाल और उस दौरान की सामाजिक-राजनीतिक परिस्थितियों का वर्णन है।

'राजतरंगिणी' में कल्हण ने तत्कालीन सामाजिक स्थिति, राजनितिक षड्यंत्रों, राजाओं की शासन कला, आर्थिक उतार-चढ़ाव और प्रजा पर उसके प्रभाव को भी शामिल किया है। जैसे हूण शासक 'मिहिरकुल' के शासन काल में प्रजा की दयनीय स्थिति का चित्रण करते हुए उन्होंने उसे क्रूर राजाओं की श्रेणी में रखा है जो अपने आनंद हेतु लोगों एवं पशुओं की हत्या करवा देता था। वहीं दूसरी ओर शासक 'तुंगजीना' की सहृदयता का भी चित्रण किया है जिसने कश्मीर में आए भयंकर अकाल के समय प्रजा की यथासंभव मदद की थी। राजनीतिक-सामाजिक-आर्थिक विश्लेषण के साथ कल्हण ने पूर्व उपलब्ध स्त्रोतों का भी चित्रण किया है जैसे प्रथम तरंग में कल्हण ने पूर्व लिखे गये इतिहास अथवा ग्रंथों- नीलमत पुराण, क्षेमेन्द्र कृत नृपावली, सुव्रत के द्वारा रचित इतिहास, हेलाराज कृत पार्थिवावाली आदि का उल्लेख किया है। 'राजतरंगिणी' लिखने के अपने प्रयोजन को बताते हुए कल्हण लिखते हैं,

"पूर्वैर्बद्धं कथावस्तु मयि भूयो निबन्धति। प्रयोजन मनाकर्ण्य वैमुख्यं नोचितं सताम् ॥८॥

(प्राचीन आचार्यों द्वारा निबद्ध इतिहास को पुनः मेरे द्वारा निबद्ध किये जाने पर, प्रयोजन को सुने बिना सज्जनों का इससे विमुख होना उचित नहीं है ॥८॥)"[7]

कल्हण के अनुसार पूर्व लिखे गए इतिहास ग्रंथ बहुत विस्तृत थे। अत: उनकी सत्यता अथवा प्रामाणिकता की जांच कर सही इतिहास को सामने लाना भी आवश्यक था। कल्हण से पहले लिखे गए विस्तृत इतिहास ग्रंन्थों को 'सुव्रत' ने संक्षिप्त करने का प्रयास किया था लेकिन उसमें से कुछ लुप्त हो गए थे। साथ ही 'सुव्रत' का इतिहास भी अपनी जटिलता के कारण आम लोगों की समझ से परे था। वहीं 'क्षेमेद्र' की रचना 'नृपावली' को भी कल्हण दोषपूर्ण मानते हैं। संभवत: एक क्रमबद्ध इतिहास के अभाव ने ही कल्हण को राजतरंगिणी लिखने को प्रेरित किया होगा।

'राजतरंगिणी' की आवश्यकता के संबंध में कल्हण लिखते हैं,

"इयं नृपाणामुल्ला से ह्रासे वा देश कालयोः। भैषज्य भूत संवादि कथा युक्तोपयुज्यते ॥२१॥

संक्रान्तप्राक्तनानन्त व्यवहारः सुचेत सः। कस्येदृशो न संदर्भो यदिवा हृदयंगमः ॥२२॥

(राजाओं के देश-काल की उन्नति और अवनति के विषय में औषध के समान अनुकूल यह कथा (राजतरंगिणी) उपयुक्त मानी जा सकती है ॥२१॥ अथवा अनगिनत प्राचीन व्यवहारों (वृत्तान्तों) को प्रतिबिम्बित करनेवाला इस (राजतरंगिणी) जैसा प्रबन्ध किस सहृदय को हृदयंगम न हो सकेगा ॥२२॥)"[8]

कल्हण के बाद उनकी इस इतिहास लेखन की परंपरा को जोनराज ने 'द्वितीय राजतरंगिणी' लिखकर आगे बढ़ाया। कल्हण ने जहाँ अपनी 'राजतरंगिणी' को समाप्त किया था वहीं से जोनराज ने अपनी 'द्वितीय राजतरंगिणी' का आरंभ किया, जिसमें उन्होंने अपने समकालीन शासक जैन-उल-आब्दीन (1420-1470) के समय के इतिहास को शामिल किया है। अपने ग्रन्थ में जोनराज ने कल्हण की 'राजतरंगिणी' का विस्तार किया है अत: इनकी लेखन शैली भी कल्हण से मिलती-जुलती है।

कल्हण की लेखन-परंपरा को आगे बढ़ानेवाले जोनराज के सामने परिस्थितियाँ बिल्कुल भिन्न थी। कल्हण ने हिन्दू राजाओं के राजनैतिक उथल-पुथल और षड्यंत्र को देखा था जबकि जोनराज के समय कश्मीर में इस्लाम का प्रवेश हो गया था। जिसका प्रभाव राजनीति के साथ-साथ सामाजिक जीवन पर भी पड़ने लगा था। इस दौरान होनेवाले धार्मिक स्थलों पर प्रहार, हिन्दुओं पर अत्याचार जैसी घटनाएँ जोनराज के ग्रन्थ में भी मिलती हैं। जैसे,

देवेन्द्रमूर्तिभङ्गेच्छा यस्यासीत् तस्य भूभुजः । /म्लेच्छप्रेरणया नित्यं विप्लवः स फलायितः ॥ ६००॥ (६०० देवमूर्ति भंग करने की जिसकी इच्छा थी म्लेच्छ (मुसलमानों) की प्रेरणा से उस राजा का वह नित्य का विप्लव' फलवत् हुआ।)[9]

जोनराज ने केवल मुस्लिम शासकों के अत्याचारों का वर्णन नहीं किया है बल्कि जैन उल आब्दीन, जिसे बडशाह के नाम से भी जाना जाता है, के सद्भावनापूर्ण कार्यों को उल्लेखित करते हुए उसकी प्रशंसा भी की है।

जोनराज की मृत्यु के बाद उनके शिष्य पंडित श्रीवर ने 'राजतरंगिणी' की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए फतह शाह (1486) के शासन में आने तक के समय के इतिहास को शामिल किया है। पंडित श्रीवर ने जहाँ अपने इतिहास को ख़त्म किया था प्राज्यभट्ट ने वहीं से अपनी 'राजावाली पताका' ग्रन्थ का आरंभ किया और लगभग 1513-1514 ई. तक के इतिहास को शामिल किया।

अत: यह कहा जा सकता है कि कश्मीर का मिथक और इतिहास दोनों उपलब्ध है जो कश्मीरी-समाज के जीवन मूल्यों एवं सांस्कृतिक परंपरा के निर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। साथ ही इस बात पर भी प्रकाश डालते हैं कि कश्मीर केवल राजनैतिक ही नहीं बल्कि मिथकीय और ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी महत्वपूर्ण रहा है। यह प्रदेश प्राचीन काल से ही लेखन के केंद्र में रहा है।

हिन्दू, इस्लाम और बौद्ध धर्म को आधार बनाकर निर्मित कश्मीर की उत्पत्ति संबंधी कथाएं जहाँ इस प्रदेश की महत्ता को उजागर करती हैं वहीं इतिहास लेखन की परंपरा द्वारा कश्मीर का आरंभिक इतिहास भी एक महत्वपूर्ण दस्तावेज है। कश्मीर के मिथक एवं इतिहास का प्रयोग आलोच्य उपन्यासों में कथाकारों द्वारा किया गया है।

ii. **कश्मीर: सामाजिक-सांस्कृतिक विरासत:**

इतिहास-लेखन की परंपरा के साथ ही कश्मीर में एक साझी संस्कृति की परंपरा भी मिलती है जिसके वाहक शैव भक्त कवयित्री ललद्यद और सूफी संत शेख नुरुद्दीन ऋषि हैं। ललद्यद और शेख नुरुद्दीन की रचनाएँ वाचिक परंपरा के रूप में कश्मीरी जीवन-समाज में प्रचलित रही हैं। इन दोनों ने ही कश्मीरी जीवन-समाज में धार्मिक सहिष्णुता एवं सद्भावना को कायम करने का प्रयास

किया था तथा एक साझी संस्कृति की राह पर चलने का मार्ग दिखाया था। इस साझी संस्कृति का सर्वोतम उदाहरण है कि ललद्यद की परंपरा के वाहक शेख नुरुद्दीन ऋषि हैं। ललद्यद के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए शेख नुरुद्दीन कहते हैं, "उस पदमानपोर की लला ने, दिव्यामृत छक कर पिया, वह हमारी अवतार थी- प्रभु! वही वरदान मुझे भी देना!"[10]

ललद्यद के समय को लेकर विद्वानों में मतभेद है। प्रेमनाथ बजाज अपनी किताब 'डॉटर ऑफ़ वितस्ता' में इनका जन्म 1335 ई. मानते हैं। शशि शेखर तोषखानी ललद्यद का जन्म 1318 ई. से 1348 ई.के बीच मानते हैं। वहीं जयालाल कौल ललद्यद को 1317 से 1320 का मानते हैं। ललद्यद के जीवन संबंधी कई जनश्रुतियां प्रचलित हैं जो उनके जीवन एवं व्यक्तित्व को जानने का एकमात्र आधार हैं। ललद्यद की अभिव्यक्ति 'वाख' कही जाती है। इनके 'वाख' आरम्भ में मौखिक परंपरा में ही प्रचलित थे, जिन्हें बाद में लिपिबद्ध किया गया।

ललद्यद के 'वाख' उनकी गहन अनुभूतियों की अभिव्यक्ति हैं जो उनके समय-समाज की विकृतियों और परिस्थितियों से परिचय कराते हैं एवं तत्कालीन समाज में स्त्री के संघर्ष को भी दिखाते हैं। इनके 'वाख' केवल इनकी निजी अभिव्यक्ति न होकर उनके समाज को प्रतिबिम्बित करते हैं। इसके बावजूद भी जैसा कि शशिशेखर तोषखानी कहते हैं, "अपने व्यक्तित्व की समस्त गरिमा और कवित्व की अपार महिमा के बावजूद लल्लेश्वरी का जीवन-वृत्त अपरिचय के अंधेरों में खोया हुआ है। श्रद्धा प्रेरित जनश्रुतियों और दंतकथाओं के आधार पर जो चित्र उभरता है वह धुंधला, अस्पष्ट और अधूरा है।"[11]

ललद्यद के विषय में यह कहा जाता है कि इनका विवाह बहुत ही कम आयु में सोन पंडित नाम के व्यक्ति से हो गया था। ललद्यद को अपने ससुराल में यातना और उपेक्षा ही मिली थी। उनके पति उनपर संदेह करते थे और उनकी सास उनके खाने की थाली में पत्थर रखकर उसके ऊपर थोड़ा-सा 'भात' रख देती थी। सास और पति के उपेक्षापूर्ण व्यवहार ने ललद्यद के विद्रोही मन

को सांसारिक जीवन से विमुख कर दिया परन्तु सांसारिक जीवन से विमुख ललद्यद का मन उस जीवन में व्याप्त कुरीतियों, बाह्याडम्बरों, धार्मिक-भेदभाव और अंधविश्वास से विमुख नहीं रह सका। ललद्यद ने सामाजिक-धार्मिक क्षेत्र में व्याप्त रूढ़ियों और अंधविश्वासों का विरोध किया एवं मूर्ति-पूजा की जगह आन्तरिक साधना को महत्वपूर्ण माना और आत्मशुद्धि पर बल देते हुए एकेश्वरवाद को महत्व दिया। ललद्यद के अनुसार ईश्वर हर स्थान, हर वस्तु व्याप्त में है। ऐसे में किसी विशेष स्थान पर किसी विशेष वस्तु को पूजने का क्या औचित्य है? मूर्ति पूजा का विरोध करते हुए वह कहती हैं, "देव भी पत्थर, देवल भी पत्थर/ ऊपर नीचे सब हैं एक-समान/ रे पंडित! तू किसे पूजता/ एकीकृत कर मन और प्राण।"[12] अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति के लिए स्थान या वस्तु की नहीं, मन एवं आचरण की शुद्धता की आवश्यकता होती है। ललद्यद के अनुसार ईश्वर हमारे भीतर ही है परन्तु अज्ञानतावश मनुष्य उसे देख नहीं पाता है। दरअसल ललद्यद का व्यक्तित्व स्व-केन्द्रित नहीं था बल्कि समष्टि की चिंता भी उनके केंद्र में थी। उन्होंने अपने समाज में व्याप्त आडंबर, पाखंड और स्वार्थ को बहुत करीब से देखा था और वह यह मानती थी कि यह मनोभाव ही मनुष्य को उसके मूल उद्देश्य से यानी ईश्वर प्राप्ति के मार्ग से दूर करता है। ललद्यद का हृदय सभी के लिए संवेदनशील है। फिर चाहे वह मनुष्य हो या पशु। ललद्यद पशुबलि का भी विरोध करती हैं। वह कहती हैं, "लाज/तेरी ढक लेता शीत मिटाता पशु/ आहार करे केवल थोड़े जल तृण का/ भट्ट! तुझे किसने ऐसा उपदेश दिया- आहार कराओ जड़ पत्थर को चेतन का?"[13] यही विरोध बाद में शेख नुरुद्दीन ऋषि के 'श्रुख' में भी मिलता है। ललद्यद इस मान्यता का विरोध करती हैं कि किसी मूर्ति के सामने जो स्वयं निर्जीव है किसी सजीव की बलि देने से ईश्वर प्रसन्न हो सकता है। बाह्याडम्बरों एवं मूर्तिपूजा का यह विरोध तथा एकेश्वरवाद का समर्थन ललद्यद को कश्मीरी मुसलमानों के भी करीब ले जाता है।

स्त्री होने के बावजूद भी तत्कालीन सामाजिक-धार्मिक व्यवस्था की कुरीतियों पर प्रहार करने के कारण ललद्यद को सामाजिक उपेक्षा, उलाहने और विरोध भी झेलना पड़ा था। लोगों के लिए

वह उपहास का पात्र थी परन्तु लौकिक जगत में मिलने वाली यह उपेक्षा उन्हें उनके मार्ग से विचलित नहीं कर पाई क्योंकि उनका मन परमात्मा में रम गया था और वहाँ इन बातों का कोई मूल्य नहीं था। मूल्य था तो केवल ईश्वर के प्रति प्रेम, भक्ति और आत्मशुद्धता का।

ललद्यद की भक्ति और सामाजिक-धार्मिक आडम्बरों के विरोध को समझने के लिए उनके युग को समझना भी आवश्यक है। शशिशेखर तोषखानी ललद्यद के युग पर टिपण्णी करते हुए लिखते हैं, "इस प्रकार एक ओर संघर्ष और एक ओर से एक नए सामंजस्य का युग था लल्लेश्वरी का युग। इस युग का संकट या संघर्ष लल्लेश्वरी के काव्य में सीधे प्रतिम्बित नहीं होता। लेकिन अपने समाज के अंतर्विरोधों और विकृतियों को उन्होंने पहचाना और उघाड़ा, अपने समय के संकट का समाधान उन्होंने आध्यात्म में खोजा। बहुत कुछ वैसे ही जैसे हिन्दी के भक्तिकालीन कवियों ने।"[14]

ललद्यद का समय कश्मीर में इस्लाम के आगमन का समय रहा है। वह युग सामाजिक-राजनीतिक उथल-पुथल का युग था। हिन्दू शासन के पतन और इस्लाम के आगमन से केवल राजनैतिक नहीं बल्कि सामाजिक स्थिति में भी बदलाव आने शुरू हो गये थे। इस्लाम अपने साथ एक अलग धर्म, जीवन-पद्धति और संस्कृति को लेकर कश्मीर में प्रविष्ट हुआ था। अत: उस दौरान सामाजिक टकराव और समन्वय एक साथ हो रहा था। ललद्यद के युग का यह संकट उनके 'वाख' में सीधे-सीधे प्रतिबिंबित नहीं होता है लेकिन इस संकट के कारण दोनों धर्मों के बीच बढ़ते मतभेद को ललद्यद ने न केवल पहचाना था बल्कि उसे मिटाने का प्रयास भी किया था। इस्लाम के आगमन और हिन्दू धर्म से उसके टकराव के बीच आम जनता धीरे-धीरे त्रस्त हो रही थी। ऐसे समय में ललद्यद ने मनुष्य को अपने आराध्य तक पहुँचने के लिए जो मार्ग प्रशस्त किया वह हिन्दू-मुस्लिम दोनों के लिए सुगम था, उसपर दोनों धर्मों के लोग साथ-साथ चल सकते थे, रह सकते थे। जिसका उदाहरण ललद्यद का यह 'वाख' है जिसमें वह कहती हैं, "शिव छुय थलि-थलि रोज़ान/ मो ज़ान होंद त मुसलमान,/ त्रुक अय छुख त पान परज़ान/सोय छय

साहिबस सूत्य ज़ान। (शिव (परमेश्वर) प्रत्येक स्थल पर रहते हैं। अत: हे मनुष्य! तू हिन्दू तथा मुसलमान में भेद न जान। यदि तू प्रबुद्ध है तो अपने आपको पहचान, यही साहिब (प्रभु) से तेरा परिचय है।)"[15] ईश्वर भक्ति का जो मार्ग ललद्यद ने अपनाया था वह किसी विशेष धर्म का पक्षधर न होकर मानवता का पक्षधर था। ललद्यद का सन्देश किसी विशेष धर्म, वर्ग या समुदाय के लिए न होकर समस्त मानव जाति के लिए था। उनके 'वाख' हिन्दू-मुस्लिम दोनों धर्मो के लोगों में लोकप्रिय हुए। प्रो. जे. एल. कौल कहते हैं, "ऐसा कोई कश्मीरी हिंदू या मुसलमान नहीं है, जिसके जिह्वाग्र पर उसके कुछ वाख सधे हुए नहीं हो।"[16] अपने 'वाख' के माध्यम से ललद्यद साझी संस्कृति के उस धरातल पर स्वयं को स्थापित करती हैं जहाँ उनके लिए मनुष्य-मनुष्य में कोई भेद नहीं है, जहाँ केंद्र में किसी व्यक्ति का धर्म नहीं उसका आचरण है, दिखावा नहीं आंतरिक शुद्धता है, जटिलता नहीं सहजता है। अपने समय में दो अलग-अलग धर्म और संस्कृतियों को जोड़ने का जो प्रयास ललद्यद ने किया, उसे उनके बाद शेख नुरुद्दीन ऋषि ने आगे बढ़ाया।

ललद्यद की ही तरह शेख नूरुद्दीन अथवा नुन्द ऋषि के जीवन के संबंध में कई कथाएँ प्रचलित हैं। शेख नूरुद्दीन ऋषि का जन्म कष्टवार के एक राजवंश परिवार में लगभग चौदहवीं शती के उतरार्ध में हुआ माना जाता है। इनके पूर्वज हिंदू थे तथा राजनैतिक कारणों से अपना राज्य छोड़कर कश्मीर घाटी में आकर बस गये थे। कश्मीर आकर इनके परिवार ने इस्लाम धर्म अपना लिया था। शेख नूरुद्दीन ऋषि के विषय में यह जनश्रुति प्रचलित है कि जन्म के बाद जब वह अपनी माता का दूध नहीं पी रहे थे तब लल्लेश्वरी ने उन्हें फटकारते हुए कहा था "पी ले काका पी/जग में आने में जब शर्म नहीं आई/छाती से पीने में दूध/शर्म कैसी?"[17] कहा जाता है ललद्यद के समझाने के बाद उन्होंने पहली बार दूध पिया था। इस घटना में कितनी सच्चाई है इसका अनुमान लगाना तो कठिन है लेकिन यदि यह घटना असत्य भी हो तो भी इसे प्रचारित करने का कारण ललद्यद और नुन्द ऋषि के उस संबंध को दिखाना रहा होगा जो उनकी साझी विरासत का आधार है। अब्दुल

कय्यूम रफ़ीकी इस संबंध के संदर्भ में कहते हैं, "She was a source of inspiration for Nuru'd-Din"[18]

शेख नुरुद्दीन का मन भी सांसारिक जीवन से विमुख रहा। उनके संबंध में कहा जाता है कि उन्होंने लगभग बारह वर्षों तक गुफा में कठोर साधना की थी। इस दौरान वह केवल छेद किये हुए बर्तन में दूध पीते थे और वन से प्राप्त शाक खाते थे। शेख नुरुद्दीन के नाम के साथ जुड़े 'ऋषि' शब्द के संबंध में अब्दुल कय्यूम रफ़ीक़ी अपनी किताब 'सूफ़ीज़्म इन कश्मीर फ्रॉम द फोर्टीन्थ टू सिक्सटीन्थ सेंचुरी' में लिखते हैं, "the beginning of the fifteenth century there arose in the Valley an indigenous Süfi order, known as the Rishi order. It developed amidst the traditions of Buddhist renunciation and Hindu asceticism. In fact the very term rishi is derived from Sanskrit."[19] कश्मीर में पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभ में स्वदेशी सूफी परंपरा का उदय हुआ था, जिसे ऋषि परंपरा के रूप में जाना जाता है। यह बौद्ध त्याग और हिंदू तपस्या की परंपराओं के बीच विकसित हुआ। अब्दुल कय्यूम रफ़ीक़ी के अनुसार 'ऋषि' शब्द संस्कृत से लिया गया है। वहीं बाबा दाउद मिश्काती मानते हैं कि "rishi was derived from the Persian word raish or rish meaning the feathers or wings of a bird. A bird, he writes, whose feathers are removed has no control over its own movements and depends entirely on the wind. To whatever direction the wind blows, the bird is carried by it. So it is with a Rishi; he is alienated from the world and lives alone buffeted by fate."[20] बाबा दाउद मिश्काती के अनुसार 'ऋषि' शब्द 'रईश या रिश' शब्द से आया है। जिसका अर्थ होता है- पक्षी का पंख। किसी पक्षी के पंख यदि हटा दिए जाएं तो उसका अपनी हरकतों पर कोई नियंत्रण नहीं होता है। वह पूरी तरह से हवा पर निर्भर हो जाता है और उसी दिशा में जाता है जहाँ हवा उसे ले जाती है। सांसारिक जीवन से विमुख ऋषि का जीवन भी ऐसा ही होता है।

शेख नुरुद्दीन 'ऋषि' के नाम के साथ जुड़ा यह शब्द चाहे जहाँ से लिया गया हो, लेकिन वे स्वयं को इस्लाम से जोड़ते हैं और अपनी परंपरा का आरंभ मुहम्मद साहब से मानते हैं। इस क्रम में वे पहला ऋषि 'ऋषि अहमद (मुहम्मद) ऋषि' को मानते हैं इसके बाद के नाम क्रमशः हैं- 'उवैश क़रनी, जुलकार ऋषि, हज़रत पलास ऋषि, मीरां ऋषि, रूम ऋषि, और सातवे ऋषि वह स्वयं हैं।' शेख नुरुद्दीन कश्मीर में कहीं बाहर से नहीं आए थे बल्कि उनके विचार कश्मीर की बदलती धार्मिक-सामाजिक परिस्थितियों के बीच ही निर्मित हुए थे। इस्लाम अपनाने से पूर्व उनके पूर्वज हिन्दू थे। अत: उस धर्म, संस्कृति और व्यवहार का प्रभाव भी उनपर होना स्वाभाविक ही लगता है। अत: इस्लाम को मानने के बावजूद भी ललद्यद से उनकी समानता सहज और स्वाभाविक है और उसी साझेपन की ओर इशारा करती है जिसे कश्मीर के संदर्भ में साझी संस्कृति कहा जाता है।

शेख नुरुद्दीन ऋषि की रचनाएं 'श्रुख' कही जाती हैं। इनके 'श्रुख' आरंभ में मौखिक रूप में ही लोगों के बीच प्रचलित रहें, जिसे बाद में संगृहीत कर 'नूरनामा' एवं 'ऋषिनामा' के नाम से संपादित किया गया। शशिशेखर तोशखानी नुरुद्दीन ऋषि के व्यक्तित्व और कृतित्व पर टिपण्णी करते हुए अपनी किताब 'कहा था ऋषि ने' में लिखते हैं, "आचरण की शुद्धता और शुचिता का उपदेश, धार्मिक बाह्याचार और सामाजिक अन्याय का विरोध—उनके काव्य के विषय और संदर्भ...हैं।"[21]

समय की दृष्टि से अंतर होने के बावजूद शेख नुरुद्दीन के कई 'श्रुख' भाव और विचार की दृष्टि से ललद्यद के 'वाख' के मिलते-जुलते हैं। दोनों के भाव एवं विचारों की यह समानता इसलिए भी हो सकती है क्योंकि इन दोनों ने मनुष्यता और भाईचारे की भावना पर बल दिया था, समाज में व्याप्त विषमता और धार्मिक-आडम्बरों पर प्रहार किया था एवं ईश्वर हर जगह व्याप्त हैं, बस उन्हें खोजने की दिशा और प्रयास सही होने चाहिए का संदेश दिया था। शेख नुरुद्दीन ऋषि मन की

शुद्धता को बाहरी ज्ञान से अधिक महत्वपूर्ण मानते हैं, वे कहते हैं, "पढ़-पढ़ पड़े जीभ में छाले/लिख-लिख आयी कर में मोच/पर कुवासना गयी न मने से,/उपजा तनिक न सच्चा सोच!"[22] उनके अनुसार बाहरी ज्ञान चाहे जितना और जिस प्रकार भी प्राप्त किया गया हो, लेकिन यदि मन में स्वार्थ, लोभ एवं वासना ने अपना स्थान बनाया तो तो यह ज्ञान किसी भी काम का नहीं है। इससे कुछ भी प्राप्त नहीं हो सकता। ललद्यद ने जिस प्रकार पंडितों के गलत आचरण का विरोध किया है ठीक उसी प्रकार मुल्लाओं के आचरण पर प्रहार करते हुए शेख नुरुद्दीन ऋषि ने कहा है, "मुल्लाओं की पगड़ी भी क्या शानदार है/-कैसे चलते अकड़-अकड़कर उसको पहने!/पांव ज़री की जूती डाले, तन पर चोगा/ और कांख में खाने की तश्तरी पंसेरी/ दुर्गम पर्वत लांघ कमाने जाओ रोज़ी,/और रोज़ी से मुल्लाह को भोज खिलाओ"[23]

शेख नुरुद्दीन ऋषि ने भी ललद्यद की ही भाँती अपना मन सामाजिक-जीवन से विमुख किया था लेकिन उसकी समस्याओं को अनदेखा नहीं किया था। अभाव में जीनेवाला एवं आर्थिक कठिनाइयों से जूझता मनुष्य भी उनके चिंतन के केंद्र में था। उनके विषय में कहा जाता है कि अपने पिता कि मृत्यु के बाद उन्हें काफी संघर्ष करना पड़ा था और बाद में उन्होंने कृषक बनना चुना था। अत: उपार्जन की मेहनत से वे भली-भांति परिचित थे। उन्हें यह बात आहत करती थी कि 'दुर्गम पहाड़ों' को पारकर आजीविका कमाने वाले किसी व्यक्ति का धन उन मुल्लाओं के हिस्से में जाए जो बिना मेहनत के ही सारी सुविधाओं का उपभोग करना चाहते हैं। वह कहते हैं, "ओ मुल्ला तुम्हारी तस्बीह साँप की तरह है/जब शागिर्द तुम्हारे आते हैं क़रीब/तुम गिनने लगते हो मनके/एक के बाद एक छह बार करते हो भोजन दिन में/अगर तुम मुल्ला हो तो चोर कौन है।"[24] अपने इस 'श्रुख' में शेख नुरुद्दीन ने मुल्लाओं के उन आचरणों का विरोध किया है जहाँ वे अपने जीवन-उद्देश्यों से हटकर स्वार्थी बनते जा रहे हैं। ईश्वर की आराधना के मार्ग पर जिस सादगी और सच्चाई की आवश्यकता होती है, निजी स्वार्थवश ये मुल्ला कई बार उसके विपरीत आचरण करते हैं। उनका उद्देश्य अपने पास आनेवाले व्यक्ति को सही मार्ग दिखलाना न होकर

अधिक-से-अधिक धन प्राप्त करना हो जाता है।

जीवन एवं व्यवहार में सादगी के पक्षधर रहे शेख नुरुद्दीन ने ललद्यद की ही भांति जीव-हत्या का विरोध किया है। उनका यह विरोध उन्हें ललद्यद की परंपरा में शामिल करता है। उनके अनुसार सच्चा मुसलमान वही है जो, "निर्जन में जो रहे, करे शाक का सेवन/मिट्टी जिसने मानी अपनी देह,/जिसने भी हो किया संतोष स्वल्पहार/वही कहलावे मुसलमान।।"[25] कश्मीर के हिमप्रदेश होने के कारण कश्मीरी पंडित और मुसलमान दोनों मांसाहारी हैं। न केवल शेख नुरुद्दीन बल्कि ललद्यद भी जिस समाज से जुड़ी थी वहाँ भी भौगोलिक स्थिति के कारण मांसाहार उनके भोजन का हिस्सा था। इसके बावजूद इन दोनों ने ही जीवों की सुरक्षा हेतु मांस-सेवन का विरोध किया। शेख नुरुद्दीन के जीव-हत्या विरोधी होने के संबंध में यह प्रसंग प्रचलित है कि जब मीर मुहम्मद हमदानी से नुरुद्दीन की मुलाकात हुई तो उन्होंने नुरुद्दीन से पूछा कि वह मांस क्यों नहीं खाते तब नुरुद्दीन ने कहा, "In our religion cruelty is prohibited, therefore killing is not allowed."[26] उनका धर्म उन्हें हत्या और क्रूरता की इजाज़त नहीं देता है। अपने इस आचरण, व्यवहार और सरल-सहज जीवन पद्धति के कारण शेख नुरुद्दीन ऋषि न केवल कश्मीरी मुसलमानों के बीच अपितु कश्मीरी हिन्दुओं के बीच भी उतने ही लोकप्रिय रहे हैं। ये हिन्दू और मुसलमान में भेद न करते हुए दोनों को एक ही सत्ता का अंश मानते थे और कहते थे, "एक ही मां बांप की संतान/ में क्यों जनमा द्वैतभाव/मुसलमान और हिन्दु सभी पर, दयादृष्टि कर सदा प्रभू।।"[27] अर्थात् जब लक्ष्य सभी के लिए एक है तो केवल उसके नाम और उस तक पहुँचने का मार्ग भिन्न होने के कारण मनुष्य-मनुष्य को बांटने का कोई औचित्य नहीं है।

शेख नुरुद्दीन ने हिंदू और मुसलमान दोनों को धर्म के सच्चे स्वरूप से अवगत कराने का प्रयास किया था और दोनों धर्मों के बीच बढ़ते मतभेद के स्थान पर प्रेम को महत्व दिया था। अपने 'श्रुखों' के माध्यम से उन्होंने समाज को जो सन्देश दिया वह किसी विशेष धर्म-जाति-सम्प्रदाय के लिए नहीं होकर सभी के लिए था। इन्होंने धर्म के लोकप्रिय और सर्वग्राही रूप को ही महत्व

दिया और ललद्यद की राह पर चलकर, उनकी परंपरा को आगे बढ़ाते हुए एक ऐसा मार्ग प्रशस्त करने का प्रयास किया जिस पर हिन्दू-मुसलमान दोनों ही बिना किसी मतभेद के चल सकें। लगभग 600-700 वर्ष पूर्व कहे गए ललद्यद और शेख नुरुद्दीन ऋषि के 'वाख' एवं 'श्रुख' समानता, बंधुत्व और आध्यात्मिक एकता के पक्षधर हैं। अपने युग में भी इन दोनों ने धार्मिक भेदभाव को स्वीकार न करते हुए जड़ता और अहंकार के बंधनों को त्यागकर ईश्वर की आराधना को ही जीवन का उद्देश्य बनाने का सन्देश दिया। इन दोनों ने ही लोकभाषा में अपनी बात कही। यह वह समय था जब साहित्य के क्षेत्र में संस्कृत और फ़ारसी का प्रभाव था और कश्मीरी साहित्य की भाषा नहीं थी। रामविलास शर्मा लिखते हैं, "कश्मीरी निम्नजनों की भाषा मानी जाती थी। इस भाषा को साहित्य का शक्तिशाली माध्यम बना देने का श्रेय ललद्यद नाम की स्त्री को है।"[28] ललद्यद की ही भांती शेख नुरुद्दीन ऋषि ने भी प्रचलित फ़ारसी भाषा को ग्रहण न कर लोकभाषा को ही अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। लोकभाषा को अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर ललद्यद और शेख नुरुद्दीन ऋषि ने इस भाषा को नई पहचान दिलाई, साथ ही लोक-हृदय का भी स्पर्श किया। यही कारण है कि मौखिक परंपरा में अभिव्यक्त इन दोनों की रचनाएँ वर्षों तक लोक-हृदय में जीवित रही हैं और कश्मीरी साहित्य और कश्मीरी लोक जीवन की साझी सांस्कृतिक धरोहर बनी हैं।

ललद्यद और शेखनुरुद्दीन के भक्ति-साहित्य को यदि शेष भारत के भक्ति- साहित्य से जोड़े तो यह उल्लेखनीय है कि लगभग 1318-1643 ई. के मध्य जिस भक्ति-धारा का विकास भारत में हुआ, उससे कश्मीर भी अछूता नहीं था। ललद्यद और शेख नुरुद्दीन ऋषि के जन्म की कोई निश्चित तिथि भले प्राप्त न हो लेकिन फिर भी प्राप्त सूचनाओं के आधार पर इन्हें 14 वीं शताब्दी के लगभग का माना जा सकता है, जो कि भारतीय साहित्य में भक्तिकाल का समय था। इस समय कश्मीर में केवल दो भिन्न संस्कृतियों का ही नहीं बल्कि उनके आध्यात्मिक, दर्शन और धार्मिक विचारों का भी समन्वय हुआ। ललद्यद और शेख नुरुद्दीन ऋषि की रचनाओं में जो आध्यात्मिक

और वैचारिक समन्वय देखने मिलता है वह शैव और सूफी मत का समन्वय है। समन्वय की यह धारा कश्मीर के भक्ति साहित्य को भारतीय भक्ति साहित्य से जोड़ती है। ललद्यद और शेख नुरुद्दीन के 'वाख' और 'श्रुख' में उपलब्ध एकेश्वरवाद, अभिव्यक्ति के माध्यम के रूप में लोकभाषा, रहस्यवाद, दार्शनिक चिंतन, सामाजिक-धार्मिक कुरीतियों का विरोध, जीव हत्या का विरोध, पंडितों-मुल्लाओं की कट्टरता का विरोध मिलता है वह हिंदी साहित्य की भक्तिकालीन संत परंपरा में भी देखने मिलती है, जो भारतीय साहित्य को एकसूत्र में बांधती है।

iii. कश्मीर: राजनैतिक इतिहास (1947-1990):

'धरती का स्वर्ग' कहा जानेवाला प्रदेश कश्मीर प्राकृतिक सौन्दर्य की दृष्टि से चाहे जितना भी आकर्षक हो लेकिन उसका राजनैतिक इतिहास बहुत ही उथल-पुथल भरा रहा है और "दुनिया के तमाम तनावग्रस्त इलाकों की तरह ही कश्मीर का भी एक जटिल इतिहास है, संशयग्रस्त वर्तमान और अनिश्चित भविष्य।"[29] आरम्भ में कश्मीर में हिन्दू एवं बौद्ध राजाओं का शासन था जिनके शासनकाल का विस्तृत वर्णन कल्हण ने अपनी राजतरंगिणी में किया है। लगभग 1320 ई. से कश्मीर में मुसलमान शासकों का शासन स्थापित हुआ। कश्मीर का पहला मुसलमान शासक रिन्चन था। रिन्चन बौद्ध था जिसने बाद में इस्लाम धर्म अपनाया। उसके बाद कश्मीर में क्रमश: मुगल, अफगान, सिख और डोगरा शासन का दौर भी आया। सन् 1849 में आंग्ल-सिख युद्ध में सिख साम्राज्य की हार के बाद अंग्रेजों द्वारा सिख साम्राज्य पर डेढ़ करोड़ रुपयों का जुर्माना लगाया गया। सिख साम्राज्य इन रुपयों को चुकाने में असमर्थ था। अत: उन्होंने जुर्माने में रुपयों के स्थान पर अपने कुछ प्रदेशों को अंग्रेजों को दे दिया जिसमें कश्मीर भी शामिल था। "रणजीत सिंह के सिपहसालार रहे और सिख सेना के प्रमुख जम्मू के तत्कालीन राजा गुलाब सिंह डोगरा ने अमृतसर समझौते में सिख साम्राज्य पर लगाये गए डेढ़ करोड़ के जुर्माने का आधा हिस्सा यानी चुकाकर बदले में जम्मू, कश्मीर, गिलगिट, बाल्टिस्तान और लद्दाख का शासन

हासिल किया।"[30]

कश्मीर का राजनैतिक इतिहास सन् 1947 से सन् 1990 तक बहुत ही जटिल रहा है। इस दौरान कश्मीर को लेकर ऐसे कई राजनैतिक निर्णय लिए गए, कश्मीर में ऐसी कई घटनाएं हुई और इतनी अधिक हिंसा हुई कि यह प्रदेश अब भी अशांत और विवादों में है। कश्मीर के संदर्भ में जिस समस्या की चर्चा होती है उसकी आरंभ भारत की स्वतंत्रता के साथ ही हुआ है। सन् 1947 तक ब्रिटिश सरकार को यह विश्वास हो गया था कि भारत को ब्रिटिश हुकूमत के अधीन रखना संभव नहीं हो पाएगा अत: भारत को स्वतंत्र करना ही होगा। जैसा कि पी. एन. के. बम्ज़ाई लिखते हैं, "By 1947 the British were convinced that India could no longer be held in thraldom and acting on the advice of the Viceroy, Lord Mountbatten, the British Government published a Plan for the partition of India. On 17 June, the Indian Independence Act was passed stating that on 15 August 1947, the British would relinquish their authority in India which was to become an independent country."[31] इस निर्णय के पश्चात ब्रिटिश हुकूमत से भारत को जो स्वतंत्रता मिलनेवाली थी उसकी बड़ी क़ीमत देशवासियों को चुकानी थी, जहाँ उन्हें स्वतंत्रता का उत्सव मनाने के साथ-साथ विभाजन का दंश भी भोगना था।

भारत की स्वतंत्रता के साथ ही उसके विभाजन का जो निर्णय ब्रिटिश शासन द्वारा लिया गया था वह केवल 'ब्रिटिश भारत' पर ही लागू था यानी केवल उन हिस्सों पर जिस पर ब्रिटिश सरकार प्रत्यक्ष रूप से शासन करती थी। देसी रियासतों को विभाजन की प्रक्रिया से मुक्त रखते हुए यह अधिकार दिया गया था कि वे विभाजन के बाद भारत या पाकिस्तान में से किसी भी देश में शामिल होने का निर्णय स्वयं लें। इस बात को स्पष्ट करने के लिए 3 जून 1947 को विभाजन की घोषणा के साथ ही ब्रिटिश सरकार ने यह भी स्पष्ट किया कि, "His Majesty's Government wish to make it clear that the decisions announced above (about partition)

relate only to British India"[32]

स्वतंत्रता पूर्व भारत में लगभग 562 देसी रियासते थीं, जिनमें से एक कश्मीर भी था। इन रियासतों पर ब्रिटिश हुकूमत का प्रत्यक्ष शासन नहीं था बल्कि इनपर प्रत्यक्ष रूप से शासन तो राजा अथवा नवाबों का ही होता था। इन रियासतों के शासक स्वतंत्र शासक होने के बावजूद भी ब्रिटिश शासन के अधीन थे। इनकी स्वायत्तता केवल उतनी थी जितनी ब्रिटिश हुकूमत उन्हें देना चाहती थी। ब्रिटिश शासन में देसी रियासतों की स्थिति और उनके आपसी संबंधों को इस बात से समझा जा सकता है, "The relations between the British Crown and the Princely States were based upon treaties, "the paramount power" taking responsibility for their foreign affairs and defense, the Princes being guaranteed their rights of succession and autonomy in internal affairs. British India and the Princely States were linked by a sort of personal union."[33]

सभी रियासतें ब्रिटिश हुकूमत के साथ अलग-अलग संधियों के माध्यम से ही जुड़ी थी। ब्रिटिश हुकुमत के साथ संधियाँ कर देसी रियासतों के शासकों ने ब्रिटिश शासन के निर्देशानुसार शासन करना स्वीकार किया था। इन संधियों से दोनों पक्षों को लाभ था। एक ओर ब्रिटिश सरकार को इन शासकों के रूप में ऐसे लोग मिल गये थे जो अपने हितों के लिए उनके हितों की रक्षा करे और दूसरी ओर नवाब और राजा अपनी रियासतों के स्वतंत्र शासक बन गए थे, जिन्हें अंग्रेजों का संरक्षण प्राप्त था। इसी संदर्भ में गोपीनाथ श्रीवास्तव लिखते हैं, "भारतीय नरेश, जहाँ तक सर्वोच्य सत्ता का सम्बन्ध था, ब्रिटिश सम्राज्ञी-सम्राट के अधीन थे, लेकिन अपने-अपने राज्यों और ताल्लुकों में स्वेच्छाचारी शासकों की तरह शासन करते थे।... सन् १८५७ के सैनिक विद्रोह के बाद अंग्रेज यह अनुभव करने लगे थे कि भारत में ऐसे मित्र होने चाहिए जिनपर वक्त-जरूरत पर निर्भर किया जा सके और जो अपने हितों में ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा कर सकें।"[34]

भारत-विभाजन और स्वतंत्रता का निर्णय लेने के दौरान सबसे बड़ी समस्या देसी रियासतों के

भविष्य को लेकर उत्पन्न हुई। ब्रिटिश शासन के समय भले इन्हें स्वतंत्र रियासतों का दर्जा मिला हो लेकिन भारत की आज़ादी और विभाजन के बाद इनका स्वतंत्र रहना संभव नहीं था और न ही यह संभव था कि ये रियासतें स्वतंत्र भारत में ब्रिटिश हुकूमत के अधीन रहें। यहाँ तक कि ब्रिटिश हुकुमत भी इन रियासतों के स्वतंत्र रहने का समर्थन नहीं कर रही थी और न ही उन्हें स्वतंत्र राष्ट्र का दर्जा देने के पक्ष में थी, बल्कि वह चाहती थी कि ये रियासतें जल्द ही भारत या पाकिस्तान किसी भी देश में विलय का निर्णय ले। लार्ड लिस्टोवेल जो उस समय भारत के राज्य सचिव थे, ने 'हाउस ऑफ़ लार्ड' को सूचित करते हुए जुलाई 1947 में कहा था कि "the British government do not, of course, propose to recognise any States as separate international entities."[35]

भले ही भारत विभाजन की प्रक्रिया में देसी रियासतों का विभाजन नहीं किया गया था और उन्हें अपने भविष्य का निर्णय स्वयं लेना था परन्तु इनके सामने स्वतंत्र रहने का विकल्प होकर भी नहीं था, क्योंकि उस समय जो परिस्थितियाँ बन रही थीं उसमें स्वतंत्र रह पाना इन रियासतों के लिए न ही व्यावहारिक था और न ही उनके भविष्य के लिए सुरक्षित था। इसके दो कारण हो सकते हैं- पहला, इन रियासतों का स्वतंत्र रहना भौगोलिक दृष्टि से समस्या उत्पन्न कर सकता था और दूसरा, दो बड़े स्वतंत्र देशों के बीच रहने पर हमेशा उनके अस्तित्व पर खतरा बना रह सकता था। अत: ब्रिटिश सरकार इन रियासतों की स्वतंत्रता के पक्ष में नहीं थी। इन देसी रियासतों के पास एकमात्र विकल्प भारत या पाकिस्तान में विलय करना ही था। देसी रियासतों के शासकों को भारत या पाकिस्तान किसी भी देश में विलय करने का अधिकार होते हुए भी इस निर्णय को लेने की पूर्ण स्वतंत्रता नहीं थी, बल्कि इस निर्णय के दौरान उन्हें अपनी भौगोलिक स्थिति और अपनी प्रजा की इच्छाओं का भी ध्यान रखना था। अर्थात् विलय का निर्णय लेते समय यह बात ध्यान में रखनी आवश्यक थी कि उनका यह निर्णय दोनों देशों के बीच सीमा-विवाद का कारण न बने। लार्ड माउन्टबेटन, जो भारत के गवर्नल जनरल थे, ने 25 जुलाई 1947 को दिये अपने भाषण में

इस संदर्भ में कहा था कि, "सैद्धांतिक रूप से देसी राज्य अपना भविष्य निर्धारण के लिए स्वतंत्र हैं। वे अपना भविष्य किसी भी डोमिनियम से जोड़ सकते हैं, जिसे वे चाहें। किन्तु किसी भी डोमिनियम से अपने भविष्य जोड़ते समय यह ध्यान रखना पड़ेगा कि उनकी भौगोलिक स्थिति क्या है। भौगोलिक बाध्यताओं से वे भाग नहीं सकते हैं।"[36]

देसी रियासतों का विलय भारत या पाकिस्तान में ही होना था लेकिन विलय संबंधी मुद्दों पर इन दोनों देशों के मत अलग-अलग थे। भारत की ओर से जहाँ इस बात पर जोर दिया जा रहा था कि स्वतंत्रता की घोषणा होने से पूर्व विलय का निर्णय ले लिया जाना चाहिए। साथ ही, जिन रियासतों के शासक स्वतंत्र रहने के पक्ष में थे उन्हें भी बातचीत द्वारा किसी एक देश में विलय करने के लिए समझाया जा रहा था। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने 7 अगस्त 1952 में दिए गए अपने भाषण में कहा था, "when the British left India, it was just as impossible for add bits of Indian territory to remain independent as it had been during their regime."[37]

यानी जिस तरह ब्रिटिश शासन के समय भारत में कोई पूर्ण स्वतंत्र शक्ति या सत्ता नहीं थी, यहाँ तक कि देसी रियासते भी पूर्णत: स्वतंत्र नहीं थी, वैसे ही स्वतंत्र भारत में भी यह संभव नहीं था। वहीं दूसरी ओर मोहम्मद अली जिन्ना देसी रियासतों की स्वतंत्रता के पक्षधर थे। उनकी ओर से रियासतों के शासकों को यह आश्वासन भी दिया जा रहा था कि जो शासक अपनी रियासत को स्वतंत्र रखना चाहते हैं वे उनका पूरा सहयोग करेंगे। उन्होंने जम्मू-कश्मीर के राजा हरिसिंह के स्वतंत्र रहने के निर्णय का समर्थन करते हुए कहा था कि, "If Jammu and Kashmir opted for independence, Pakistan would welcome it and would sign friendly agreements with her for [the] common weal of both the peoples."[38]

यदि कश्मीर में संदर्भ में देखें तो राजा हरिसिंह के कश्मीर की भौगोलिक स्थिति को ध्यान में रखते

हुए विलय का निर्णय लेने की समस्या नहीं थी क्योंकि कश्मीर की सीमा भारत और पाकिस्तान दोनों देशों से मिली हुई हैं, लेकिन यदि जनसंख्या के हिसाब से देखा जाए तो निर्णय में समस्या उत्पन्न हो सकती थी। कश्मीर एक ऐसा प्रदेश था जिसका शासक़ हिन्दू और बहुसंख्यक प्रजा मुस्लिम थी। ऐसे में बहुत हद तक यह संभव था कि शासक और जनता का विलय संबंधी मत एक न हो। राजा हरिसिंह इस स्थिति से उत्पन्न होनेवाली संभावित समस्या को नजरंदाज़ करते हुए स्वतंत्रता पर ही अपना ध्यान केंद्रित किए हुए थे। जैसा कि पी. एन. के. बम्ज़ाई लिखते हैं, "All these years the Maharaja was dreaming of an independent Kashmir State protected and aided by the British Crown."[39] भारत से ब्रिटिश हुकूमत के जाने के बाद वे कश्मीर को स्वतंत्र ही रखना चाहते थे। बहुत हद तक सभव है कि वे तेजी से बदलते राजनैतिक परिदृश्य और परिस्थतियों को समझ नहीं रहे थे या स्वतंत्र शासक बनने की महत्वाकांक्षा उनपर इतनी हावी हो गई थी कि वे उसके संभावित दुष्परिणामों को समझना ही नहीं चाहते थे। ब्रिटिश हुकुमत के शासनकाल में संधियों के माध्यम से भले उनका एक सीमा तक स्वतंत्र रहना संभव था लेकिन आजाद भारत और नव-निर्मित पाकिस्तान के बीच उनका यह स्वप्न उनके प्रदेश के लिए एक बड़ी समस्या उत्पन्न करनेवाला था, जिसकी बड़ी क़ीमत प्रदेश और उसके निवासियों को चुकानी थी। राजा हरिसिंह को भविष्य में होनेवाली इस समस्या से आगाह करने के लिए 19 जून 1947 को लार्ड माउन्टबेटन, जो भारत के गवर्नर जनरल थे, कश्मीर गए। वहाँ माउंटबेटन ने राजा हरिसिंह और उनके तत्कालीन प्रधानमन्त्री रामचन्द्र काक से कहा कि, "not to make any declaration of independence, but to find out in one way or another the will of the people of Kashmir as soon as possible and to announce their intention by 14th of August"[40] लार्ड माउन्टबेटन के कश्मीर जाने का उद्देश्य राजा हरिसिंह को 15 अगस्त 1947 तक किसी भी देश में विलय कर लेने के लिए तैयार करना था। वे चाहते थे कि कश्मीर के राजा विलय का निर्णय जल्दी ही ले ले। उन्होंने राजा

हरिसिंह को विलय के निर्णय में होनेवाली दुविधा से बचाने के लिए भारत की ओर से यह आश्वासन भी दिया था कि यदि राजा हरिसिंह पाकिस्तान में विलय का निर्णय लेते हैं तो भी भारत को इस बात से कोई आपत्ति नहीं होगी और न ही उनके इस निर्णय का कोई प्रभाव भारत और कश्मीर के संबंधों पर पड़ेगा। इस आश्वासन के बावजूद भी राजा हरिसिंह ने विलय की अपेक्षा स्वतंत्र रहने का निर्णय लिया। उनके इस निर्णय के दो कारण हो सकते हैं। पहला, वे कश्मीर को स्वतंत्र रखते हुए उसके स्वतंत्र शासक बनना चाहते थे और दूसरा उन्हें विलय हेतु भारत या पाकिस्तान में से कोई भी विकल्प उचित नहीं लगा होगा। पाकिस्तान में विलय करना एक हिन्दू शासक होने के नाते उन्हें भविष्य के लिए सही विकल्प नहीं लगा होगा। उनके बेटे कर्ण सिंह के ही शब्दों में "my father was enough of a Hindu not able to stomach the aggressive Muslim Communism of the use and his lead to Palm tempting offers from Pakistan"[41] वहीं दूसरी ओर भारत के साथ विलय करने में सबसे बड़ी समस्या उनके लिए जवाहरलाल नेहरू और शेख अब्दुल्ला की मित्रता थी। जैसा कि कर्ण सिंह लिखते हैं, "To this party my father was has hostile mainly because of Jawaharlal's closed association with his arch enemy Sheikh Abdullah."[42] शेख अब्दुल्ला ने सन् 1931 में राजा हरिसिंह के विरोध में आन्दोलन किया था। उसके बाद सन् 1946 में शेख अब्दुल्ला और उनकी पार्टी 'नेशनल कांफ्रेंस' ने उनके विरुद्ध 'कश्मीर छोड़ों' आन्दोलन भी चलाया था। जिसके बाद राजा हरिसिंह ने शेख अब्दुल्ला को जेल में डाल दिया था। शेख अब्दुल्ला को वे हमेशा अपने शासन के लिए शत्रु के रूप में ही देखते थे और संभवतः यह मानते थे कि कश्मीर का भारत में विलय होने के साथ ही जवाहरलाल नेहरू शेख अब्दुल्ला को कोई महत्वपूर्ण प्रशासनिक पद अवश्य देंगे। इसके साथ ही, वे शेख अब्दुल्ला को जेल से आज़ाद कराने की जवाहरलाल नेहरू की कोशिश को भी देख चुके थे, जहाँ राज्य में प्रवेश पर प्रतिबन्ध होने के बावजूद जवाहरलाल नेहरू ने कश्मीर की ओर पैदल-यात्रा आरंभ कर दी थी।

जब भारत का विभाजन हुआ तब देश के कई हिस्सों में दंगे और हिंसा हुई लेकिन जैसा कि कश्मीर के संदर्भ में कहा गया है "The Kashmir valley remained free from any communal tension during this period...There was no communal riot at the time of the partition in any part of the valley. This is perhaps why Gandhiji saw a 'ray of hope' in Kashmir."[43] लेकिन यह उम्मीद बहुत दिनों तक कायम न रह सकी। भारत विभाजन के दौरान भले ही कश्मीर में वह सांप्रदायिकता और हिंसा न हुई हो जिसे देश के कुछ हिस्सों ने झेला था, बाद में यही सांप्रदायिकता और हिंसा कश्मीर की नियति बनने वाली थी और यहीं से कश्मीर के वर्तमान समस्या की पृष्ठभूमि बनने लगी थी। 15 अगस्त सन् 1947 में भारत स्वतंत्र हुआ और भारत-पाकिस्तान दो अलग देश बने। इस अवधि तक राजा हरिसिंह द्वारा कोई निर्णय नहीं लिए जाने के कारण कश्मीर का भारत या पाकिस्तान किसी देश में विलय नहीं हो सका और इसके साथ ही कश्मीर में एक ऐसी समस्या उत्पन्न हुए जिसका समाधान अब तक पूरी तरह से नहीं हो पाया है। राजा हरिसिंह यह जानते थे कि कश्मीर को स्वतंत्र रखने के लिए और प्रशासन को सुचारू रूप से चलाने के लिए उन्हें दोनों देशों के सहयोग की आवश्यकता होगी। अत: उन्होंने भारत और पाकिस्तान दोनों देशों से 'स्टैंडस्टील' समझौता करने हेतु प्रस्ताव दिया, जो 15 अगस्त 1947 यानी भारत की स्वतंत्रता के दिन से लागू हो। राजा हरिसिंह ने दोनों देशों को इस समझौते की रूपरेखा संबंधी 'टेलीग्राम' भेजा, जिसके अनुसार "जब तक कि नये करारनामे न किए जाएं, मौजूदा करारनामे और प्रशासकीय व्यवस्थाएं चलती रहेंगी...करारनामे की किसी भी बात से राजा की सर्वोच्य सत्ता पर कोई आंच नहीं आएगी।"[44] इस 'स्टैंडस्टील' समझौते के माध्यम से राजा हरिसिंह चाहते थे कि दोनों ही देशों से उनके संबंध और उनकी स्वतंत्रता भी बनी रहे। रियासत में आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति भी हो और सुरक्षा भी मिले। पाकिस्तान सरकार द्वारा राजा हरिसिंह के इस प्रस्ताव को स्वीकार किया गया और कश्मीर एवं पाकिस्तान के बीच संचार, डाकघर, टेलीग्राफी व्यवस्था एवं अन्य आवश्यक

वस्तुओं के निर्यात पर समझौता हुआ। वहीं भारत सरकार द्वारा इस समझौते को विचाराधीन रखते हुए टेलीग्राम का उत्तर देते हुए कहा गया कि, "Government of India would be glad if you or some other Minister duly authorised in this behalf could fly Delhi for negotiating standstill agreement between Kashmir Government and Indian Dominion."[45] लेकिन इससे पहले कि राजा हरिसिंह और भारत सरकार के बीच समझौते पर कोई बातचीत हो पाती पाकिस्तान द्वारा 'स्टैंडस्टील' समझौते का उल्लंघन कर कश्मीर में निर्यात की जानेवाली आवश्यक वस्तुओं पर रोक लगा दी गई। 'स्टैंडस्टील' समझौते के अंतर्गत पाकिस्तान सरकार को कश्मीर में आवश्यक वस्तुओं का निर्यात करना था, लेकिन समझौता होने के कुछ समय बाद से ही पाकिस्तान सरकार की ओर से राजा हरिसिंह पर कश्मीर के पाकिस्तान में विलय के लिए दबाव बनाया जाने लगा। जिसका एक प्रयास समझौते का उल्लंघन था। प्रदेश द्वारा खरीदी गई वस्तुएं जैसे, कपड़ा, भोजन, पेट्रोल और गोला-बारूद को पाकिस्तान के अधिकारियों ने कोहाला अथवा सियालकोट में ही जब्त कर लिया। इन वस्तुओं को प्रदेश में पहुँचने की अनुमति नहीं दी गई, यह जानते हुए भी कि प्रदेश इन वस्तुओं के लिए पाकिस्तान पर ही निर्भर है।

इस घटना से पूर्व पाकिस्तान की ओर से राजा हरिसिंह को विलय हेतु कई तरह के प्रलोभन और आश्वासन दिये गए थे। मेहरचंद महाजन, जो राजा हरिसिंह के प्रधानमंत्री थे, ने पाकिस्तान की ओर से मिलने वाले प्रस्तावों के संदर्भ में लिखा है, "Without hesitation they told me that I should advise the Maharaja to accede to Pakistan and if that was done they would always remain loyal to him and would see that he remained an independent ruler inside the Pakistan State."[46] इन प्रलोभनों और आर्थिक नाकेबंदी के बाद भी राजा हरिसिंह ने अपना निर्णय नहीं बदला।

इस पूरे विवाद में भारत और पाकिस्तान के पक्ष को इस बात से भी समझा जा सकता है कि जहाँ

भारत सरकार की ओर से लार्ड माउन्टबेटन ने राजा हरिसिंह को यह आश्वासन दिया था कि यदि वे पाकिस्तान में विलय का निर्णय लेते है तो भी भारत सरकार को कोई आपत्ति नहीं होगी। वहीं दूसरी ओर पाकिस्तान, जो शुरू से ही कश्मीर की स्वतंत्रता का समर्थन कर रहा था, ने समझौता होने के बावजूद भी राजा हरिसिंह पर विलय के लिए दबाव बनाया और समझौते को तोड़कर आवश्यक वस्तुओं की आपूर्ति पर भी रोक लगा दी। समझौता तोड़ने का उद्देश्य यह था कि हरिसिंह के पास दूसरा कोई विकल्प न बचे और वे पाकिस्तान में विलय स्वीकार कर ले। पाकिस्तान द्वारा 'स्टैंडस्टील' समझौता तोड़े जाने पर हुई आवश्यक वस्तुओं की कमी ने कश्मीर की अर्थव्यवस्था और सामान्य जीवन पर बुरा प्रभाव डाला। इन सबके बावजूद भी जब हरिसिंह ने पाकिस्तान में विलय स्वीकार नहीं किया, तब पाकिस्तान ने कश्मीर पर हमला करनेवाले हमलावरों का सहयोग भी किया। इस स्थिति में "India's help on humanitarian grounds- some essential supplies came by air to the State when weather was favourable- the State would have been at the mercy of Pakistan."[47] भारत ने कश्मीर में केवल आवश्यक वस्तुएं ही भेजी थी अपनी सेना नहीं। भारतीय सेना ने कश्मीर में तभी प्रवेश किया जब कश्मीर का भारत में विधिवत विलय संपन्न हुआ। यह कहना अनुचित नहीं होगा कि कश्मीर के पाकिस्तान में विलय हेतु उसकी ओर से समझाने, दबाव बनाने और डराने जैसे हर प्रयास किए गए। देसी रियासतों की स्वतंत्रता का पक्ष लेनेवाले, उनके स्वतंत्र रहने के निर्णय में सहयोग करने का दावा करनेवाले पाकिस्तान ने 15 अगस्त 1947 तक कश्मीर के राजा द्वारा कोई निर्णय न लिए जाने की स्थिति में कश्मीर को दो महीने भी स्वतन्त्र नहीं रहने दिया।

22 अक्तूबर 1947 में कश्मीर पर क़बायली हमला हो गया। कश्मीर में प्रवेश करते ही इन हमलावरों का मुख्य उद्देश्य कश्मीर को लूटना बन गया। पी. एन. के. बम्ज़ाई इस हमले के संबंध में लिखते हैं, "It was a calamity for the peaceful inhabitants of Baramula. Hundred were cut down in cold blood. Houses were burnt and looted. No

distinction was made between Hindu, Muslim, Sikh or Christian. The entire Mission building of St. Joseph's Convent was ransacked and then burnt to the ground. The chapel was strewn with smashed glass and plaster."[48] कश्मीर पर हुए हमले के दौरान क़बायली हमलावरों के शिकार केवल कश्मीरी पंडित ही नहीं बने बल्कि उन्होंने ईसाईयों, सिखों के साथ-साथ अपने मार्ग में बाधा बनने वाले कश्मीरी मुसलमानों को भी मार दिया। अस्पतालों पर भी हमला किया, बिजली घर तोड़ दिया और जहाँ जो भी संपत्ति मिली उसे लूट लिया। राजा हरिसिंह के पास इन हमलावरों को रोकने के लिए न ही पर्याप्त सेना थी और न ही आवश्यक संसाधन थे। अत: इस दौरान कश्मीरी जनता ने भी हमलावरों को रोकने का यथासंभव प्रयास किया था। उनका उद्देश जब तक भारत से मदद न आ जाये तब तक उन्हें रोके रखना था ताकि वह उनके प्रदेश को कम-से-कम नुकसान पहुँचा सकें। क़बायली हमलावरों को रोकने में नेशनल कांफ्रेंस ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई, "the National Conference took up the task of defending the city and surrounding districts against invasion. Thousands of volunteers from all communities came forward to offer resistance to the invader... All available civil motor transport was requisitioned and kept ready for the Indian Army who were expected to come to the aid of Kashmiris in their hour of peril and misfortune."[49] नेशनल कांफ्रेंस ने एक सेना का गठन किया 'नेशनल मिलिशिया' रखा। जिसमें एक महिला विंग की स्थापना हुई। इनका उद्देश्य हमलावरों को रोकने के साथ ही भारतीय सेना की सहायता करना भी था।

कश्मीर पर अचानक हुए इस हमले के बाद राजा हरिसिंह के पास भारत से सहायता मांगने के अतिरिक्त और कोई विकल्प नहीं था। अत: उन्होंने 24 अक्तूबर, 1947 को भारत से सहायता मांगी। लार्ड माउंटबेटन, ऐसी स्थिति में जब कश्मीर भारत का हिस्सा नहीं है तब, भारत द्वारा

उसकी सेना कश्मीर में भेजने के पक्ष में नहीं थे। उनका मानना था, "It would be the height of folly to send troops into a neutral State, whenever we had no right to send them, since Pakistan could do exactly the same thing, which could only result in clash of armed forces and in war."[50] माउंटबेटन चाहते थे कि भारत सरकार कश्मीर के राजा हरिसिंह की सहायता के अनुरोध को तभी स्वीकार करे जब कश्मीर का भारत में विलय हो जाए, क्योंकि विलय से पहले कश्मीर में भारतीय सेना के जाने से पाकिस्तान भी ऐसा कर सकता था। चूँकि राजा हरिसिंह के पास अब कोई विकल्प नहीं बचा था अत: उन्होंने कश्मीर के भारत में विलय को स्वीकार किया और 26 अक्तूबर 1947 को विलय पत्र पर हस्ताक्षर कर दिया।

The Hindustan Times

KASHMIR ACCEDES TO INDIA

PLEBISCITE SOON ON RULER'S DECISION

SHEIKH ABDULLA TO FORM INTERIM GOVT.

UNION TROOPS RUSHED FOR PROTECTION OF STATE

Troops And Arms Flown To Srinagar

26 October, 1947

विलय पत्र पर हस्ताक्षर होने के साथ ही कश्मीर की सुरक्षा अब भारत सरकार की जिम्मेदारी बन गई। कश्मीर में सहायता भेजने से पूर्व भारत की ओर से वी. पी. मेनन को, जो राज्य मंत्रालय के सचिव थे, परिस्थिति समझने के लिए कश्मीर भेजा गया। कश्मीर से लौटकर वी. पी. मेनन ने दिल्ली में दी गई अपनी रिपोर्ट में इस बात कि पुष्टि की कि कश्मीर में शीघ्र ही सहायता भेजी

जानी चाहिए। 27 अक्तूबर 1947 को भारतीय सेना कश्मीर पहुँची जो उस समय कश्मीरियों की एकमात्र उम्मीद थी और जैसा कि बलराज पूरी ने लिखते हैं, "The Kashmiris welcomed the army as the defenders of their honor, freedom and identity."[51]

कश्मीर का भारत में विलय मूलत: रक्षा विभाग, विदेशी मामले और परिवहन क्षेत्रों में हुआ था। कश्मीर के भारत में विलय और कश्मीर में सैन्य सहायता भेजना जवाहरलाल नेहरू ने कुछ शर्तों पर स्वीकार किया था, जिसके संबंध में मेहरचंद महाजन अपनी किताब 'Looking Back' में लिखा है कि जवाहरलाल नेहरू के अनुसार प्रदेश की रक्षा, विदेश और परिवहन संबंधी मामले भारत सरकार के अधीन रहेंगे। प्रदेश का प्रशासन लोकतांत्रिक तरीके से चलना चाहिए। प्रदेश के लिए एक अलग संविधान बनाना चाहिए और शेख अब्दुल्ला को प्रशासन में शामिल किया जाना चाहिए। इनमें से पहली शर्त पहले ही पूरी की जा चुकी थी, दूसरी पूरी होनी थी और तीसरी शर्त वह थी जिसकी आशंका राजा हरिसिंह को पहले से थी कि भारत में कश्मीर का विलय होते ही जवाहरलाल नेहरू शेख अब्दुल्ला को कश्मीर की राजनीति में शामिल करना चाहेंगे। राजा हरिसिंह ने इन तीनों शर्तों को स्वीकार किया और कश्मीर के विलय पत्र पर हस्ताक्षर किया। इस विलय के बाद भविष्य में कश्मीर में बहुत कुछ परिवर्तित होनेवाला था जिसकी शुरुआत राजनैतिक पदों में परिवर्तन के साथ हुई। उस समय जम्मू-कश्मीर के प्रधानमन्त्री रहे मेहरचंद महाजन ने शेख अब्दुल्ला के साथ अपने मतभेदों के कारण 2 मार्च 1948 को अपने पद से इस्तीफा दे दिया, जिसके बाद शेख अब्दुल्ला जम्मू-कश्मीर के प्रधानमन्त्री बने। शेख अब्दुल्ला और राजा हरिसिंह के संबंध पहले से ही खराब थे। शेख अब्दुल्ला के सत्ता में आने के बाद उनके संबंध और अधिक खराब होने लगें। यह कहना गलत नहीं होगा कश्मीर के बदलते राजनैतिक परिदृश्य में उनके लिए अब कोई जगह नहीं बची थी। "मई 1949 में... पटेल ने राजा से अपनी पत्नी सहीत राज्य छोड़कर दिल्ली आ जाने को कहा। हरि सिंह अपना भविष्य जान चुके थे। 18 वर्षीय राजकुमार करण सिंह को राज्याधिकारी (रीजेंट) नियुक्त कर वह बम्बई चले गए और फिर

1962 में उनकी राख ही कश्मीर लौटी।"[52] भारत में कश्मीर का विलय राजा हरिसिंह की इच्छा और उन्हें मिले अधिकारों का उपयोग करते हुए ही किया गया था। पी. एन. के. बम्ज़ाई लिखते हैं, "The accession of the Jammu and Kashmir State to the Union of India was accepted by the Governor-General, Lord Mountbatten, in precisely the same way as in the case of other Indian States. The accession was thus complete in law and in fact, Jammu and Kashmir State thenceforth became an integral part of India and its defence the concern of the whole country."[53] राजा हरिसिंह के भारत में विलय संबंधी निर्णय को लार्ड माउन्टबेटन और शेख अब्दुल्ला, जो कि कश्मीर के लोकप्रिय नेता थे, की भी सहमति थी बावजूद इसके पाकिस्तान द्वारा इस विलय को स्वीकार नहीं किया और इसका विरोध किया जाने लगा।

विलय संबंधी विवाद में भारत अपना पक्ष रखते हुए इस बात पर जोर दे रहा था कि यह विलय पूरी तरह से संवैधानिक है और कश्मीर पर हुआ क़बायली हमला पाकिस्तान के सहयोग से हुआ था, वहीं पाकिस्तान इस हमले में अपनी भूमिका को नकार कर रहा था। पाकिस्तान के प्रधानमन्त्री लियाकत अली खान ने 30 दिसम्बर, 1947 को जवाहर लाल नेहरू को लिखे पत्र में कश्मीर पर हुए हमले में पाकिस्तान की भूमिका को नकारते हुए लिखा था, "As regards the charges of aid and assistance to the 'invaders' by the Pakistan Government we emphatically repudiate them. On the contrary the Pakistan Government have combined to do all in their power to discourage the tribal movements by all means short of war."[54]

यह बात अब कई संदर्भों से सिद्ध हो चुकी है कि इन हमलावरों को पाकिस्तान की सहायता प्राप्त थी। पी. एन के. बम्जाई कश्मीर पर हुए क़बायली हमले में पाकिस्तान की भूमिका के संबंध में लिखते हैं, "Pakistan, which had till now strenuously denied direct

participation in the Kashmir fighting, confessed to the UN Commission that since May the Pakistan Army battalions had been fighting in Kashmir and that the Pakistan Army headquarters were in overall command of the operations in Jammu and Kashmir on their side of the line."[55]

क़बायली हमले की आड़ में कश्मीर पर कब्ज़ा करने के नीति के असफल होने पर कश्मीर विलय को गैर-संवैधानिक बताते हुए पाकिस्तान द्वारा विलय पर बार-बार सवाल उठए जाने लगे। स्थिति की गंभीरता को समझते हुए माउन्टबेटन ने कश्मीर मुद्दे पर जनमत संग्रह कराने का सुझाव दिया। मोहम्मद अली जिन्ना चाहते थे कि जनमत संग्रह दोनों देशों के गवर्नल जनरलों की देख-रेख में हो। यानी पाकिस्तान की तरफ से स्वयं उनके और भारत की तरफ से माउन्टबेटन की देख-रेख में जनमत-संग्रह हो। माउन्टबेटन ने इस संबंध में यह स्पष्ट किया कि इस मुद्दे में उनकी भूमिका सीमित है। वह अपनी देख-रेख में ऐसा कोई कार्य नहीं करवा सकते। बावजूद इसके मोहम्मद अली जिन्ना अपनी बात पर कायम रहें और इस जनमत संग्रह से भारतीय सेना और शेख अब्दुल्ला को दूर रखने पर जोर देते रहें, क्योंकि उनके अनुसार इस दोनों की उपस्थिति में कश्मीरी जनता भयमुक्त होकर अपना मत नहीं दे पाएगी। कोई भी समझौता न होने की स्थिति में माउंटबेटन ने इस मामले को सयुंक्तराष्ट्र संघ में ले जाने और उसकी देख-रेख में जनमत कराने का सुझाव दिया। पहले तो पाकिस्तान की ओर से इस प्रस्ताव का विरोध किया गया लेकिन अंतत उसने भी इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और भारत ने भी इस इस प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया।

कश्मीर के संदर्भ में जिस जनमत संग्रह की बात उठती है उसके केंद्र में राज्यों के विलय के संबंध में बनाया गया वह कानून है जिसके अंतर्गत किसी राज्य के विलय को लेकर यदि कोई समस्या उत्पन्न हो, चाहे वह भौगोलिक विवाद हो या शासक और प्रजा के बीच विलय को लेकर मतभेद हो, उसे सुलझाने के लिए जनमत संग्रह का सहारा लिया जाएगा। यानी जनता की इच्छा ही

सर्वोपरी मानी जाएगी। विलय से संबंधित विवाद अथवा विलय का भौगोलिक सीमा के अनुकूल न होने पर माउंटबेटन के अनुसार, "the question of accession should be decided in accordance with the wishes of the people of the State, it is my government's wish that, as soon as law and order have been restored in Kashmir and its soil cleared of the invaders, the question of the State should be settled by a reference to the people."[56] शायद इसी वजह से भारत सरकार ने कश्मीरी जनता को यह आश्वासन दिया था कि विलय का अंतिम निर्णय जनमतसंग्रह द्वारा ही किया जाएगा। जवाहरलाल नेहरू ने 2 नवम्बर 1947 में दिये अपने भाषण में कहा था, "We have decided to accept this accession and to send troops by air, but we made a condition that the accession would have to be considered by the people of Kashmir later when peace and order were established. We were anxious not to finalize anything in a moment of crisis, and without the fullest opportunity to the people of Kashmir to have their say. It was for them ultimately to decide."[57]

जनवरी 1948 में यह मामला सयुंक्तराष्ट्र संघ में गया। सयुंक्तराष्ट्र संघ द्वारा भारत और पाकिस्तान के बीच इस विवाद को सुलझाने के लिए 'सयुंक्त राष्ट्र आयोग' (UNCIP) अथवा 'कश्मीर आयोग' का गठन किया गया। इस आयोग के सदस्यों में भारत-पाकिस्तान के एक-एक प्रतिनिधि थे और तीसरा प्रतिनिधि इन देशों को आपसी सहमति से चुनना था। इस आयोग के अंतर्गत मध्यस्त की भूमिका सबसे पहले दिसंबर 1949 में जनरल मैकनॉटन ने निभाई, लेकिन उन्हें सफलता नहीं मिली। अप्रैल 1950 में सर ओवन डिक्सन की नियुक्ति मध्यस्थता के लिए हुई। उन्होंने पूरे जम्मू-कश्मीर में जनमतसंग्रह कराने की जगह क्षेत्रीय जनमतसंग्रह का सुझाव दिया जिसमें जम्मू और लद्दाक भारत को एवं पूंछ, पाकिस्तान अधिकृत कश्मीर, गिलगिट-बाल्टिस्तान

पाकिस्तान को देकर केवल कश्मीर घाटी में जनमतसंग्रह कराने की बात कही, लेकिन इसपर भी सहमति नहीं बनी। यह विभाजन संभवत हिन्दू-मुस्लिम बहुल इलाकों को आधार बनाकर किया गया था। 1951 को डॉ फ्रैंक पी. ग्राहम मध्यस्त की भूमिका में आए लेकिन उनके द्वारा दी गई रिपोर्ट में कश्मीर में दोनों देशों की सेना संख्या कितनी होनी चाहिए, इसपर सहमति नहीं बन पाई। अत: बार-बार प्रयास किए जाने पर भी विवाद ख़त्म न होने की स्थिति में 1964 में सुरक्षा परिषद ने दोनों देशों को बातचीत द्वारा इस विवाद को सुलझाने का सुझाव दिया, लेकिन दोनों देशों के बीच न ही यह विवाद ख़त्म हुआ और न ही जनमतसंग्रह की स्थिति ही बन पाई। जनमत संग्रह शांतिपूर्ण तरीके से तब ही हो सकता था जब कश्मीर में किसी तरह के हमले की आशंका न हो और इस प्रक्रिया में दोनों देशों की आपसी सहमति हो। पाकिस्तान की यह माँग थी कि जनमत संग्रह होने से पूर्व भारतीय सेना कश्मीर से हटनी चाहिए जबकि भारत इससे सहमत नहीं था। इसका कारण संभवत: यह रहा होगा कि भारत को यह आशंका थी कि जैसे ही वह अपनी सेना कश्मीर हटा लेगा पाकिस्तान फिर से कश्मीर पर आक्रमण कर देगा। वहीं पाकिस्तान भारतीय सेना की उपस्थिति में जनमत संग्रह पर लगातार अपनी असहमति दे रहा था। साथ ही दोनों देशों के बीच कश्मीर में उपस्थित उनकी सेना की संख्या पर भी कोई सहमति नहीं बन पा रही थी। अत: जनमत संग्रह का यह मुद्दा संयुक्तराष्ट्र संघ में जाने के बावजूद भी कार्यान्वित नहीं हो पाया। पी.एन.के. बम्ज़ाई का मानना है कि भारत सरकार ने कश्मीर में जनमत संग्रह कराने का अपना वादा पूरा कर लिया है। इस संबंध में उन्होंने लिखा है, "It was a promise to the people of Kashmir which the Government of India fulfilled later with the holding of elections on universal adult franchise to the Constituent Assembly of the State which approved the State having acceded to India on 26 October 1947."[58]

31 दिसम्बर, 1948 को सयुंक्त राष्ट्रसंघ ने जब युद्ध विराम की घोषणा की तब भारतीय सेना जहाँ

थी उसे वहीं रुकना पड़ा। इस घोषणा से पूर्व भारतीय सेना ने क़बायली हमलावरों को हराकर जिन स्थानों को उनसे मुक्त कराया वह भारत के अंतर्गत आए और बाकी का हिस्सा पाकिस्तान में चला गया, जिसे पाकिस्तान 'आज़ाद कश्मीर' कहता है। इस युद्ध के बाद जम्मू-कश्मीर दो हिस्सों में बंट गया। पहला, जम्मू, लेह और भारत के हिस्से वाला कश्मीर और दूसरा, गिलगिट, बाल्टिस्तान और पाकिस्तान अधिकृत अथवा 'आज़ाद कश्मीर'। कश्मीर आयोग ने 12 मार्च, 1949 को यह घोषणा की कि दोनों देशों के बीच युद्ध विराम की रेखा अब संधि रेखा भी है, जिसपर दोनों देशों की सहमति है। इस युद्ध विराम के बाद भी भारत और पाकिस्तान के बीच दो और युद्ध हो चुके हैं। 5 अगस्त 1965 को पाकिस्तानी सैनिकों ने जम्मू-कश्मीर में युद्ध विराम रेखा को पार कर प्रवेश किया। इस घुसपैठ की खबर लगते ही भारतीय सेना ने भी इसके विरुद्ध अपनी कार्यवाही आरम्भ कर दी। घुसपैठ की योजना के असफल होने पर 2 सितम्बर 1965 को पाकिस्तान ने कश्मीर पर प्रत्यक्ष रूप से आक्रमण दिया। दोनों देशों में हो रहे इस युद्ध को रोकने के लिए सुरक्षा परिषद ने मध्यस्थता की और यह प्रस्ताव दिया कि दोनों ही देश युद्ध विराम के लिए युद्ध शुरू होने के पहले की स्थिति में आ जाए। 23 सितम्बर 1965 को दोनों देशों के बीच युद्ध विराम हुआ। सोवियत संघ ने भी युद्ध विराम हेतु दोनों देशों बीच मध्यस्थता की। 10 जनवरी 1966 को दोनों देशों के बीच ताशकंद समझौता हुआ। इसके बाद 1971 में भारत पाकिस्तान के बीच हुआ युद्ध भले बांग्लादेश के मुद्दें पर लड़ा गया हो, लेकिन इस युद्ध में पाकिस्तान ने कश्मीर पर भी आक्रमण कर दिया था और बाद में उसे भारतीय सेना के सामने समर्पण करना पड़ा। इसके बाद दोनों देशों के बीच शिमला समझौता हुआ।

31 दिसम्बर, 1948 को दोनों के बीच युद्ध-विराम होने के बाद भी दोनों देशों के बीच न ही जनमत संग्रह और न ही कश्मीर मुद्दे पर कोई समझौता हो पाया। अत: इसे भविष्य के लिए छोड़ दिया गया और भारतीय संविधान में जम्मू-कश्मीर के लिए धारा 370 को जोड़ा गया। 26 जनवरी 1950 में भारत का संविधान पारित हुआ और उसी के साथ जम्मू-कश्मीर पर धारा 370 लागू

की गई। इस धारा पर केंद्र और राज्य के प्रधानमंत्रियों यानी जवाहरलाल नेहरू और शेख अब्दुल्ला एवं उनके सहयोगियों के बीच मई 1949 से अक्तूबर 1949 तक चर्चा हुई थी। यह धारा राज्य को 'विशेष राज्य' का दर्जा देती थी। साथ ही कुछ निर्देश भी जारी किए गए जो केंद्र सरकार और राज्य के संबंधों और अधिकारों को निर्धारित करती थी। धारा 370 के अंतर्गत कश्मीर को ये विशेषाधिकार दिये गए-

1. "इस धारा के अनुसार जम्मू और कश्मीर को अपना अलग संविधान बनाने की इजाज़त दी गई।
2. भारतीय संसद के राज्य के सम्बन्ध में वैधानिक धिकार तीन विषयों तक सीमित होंगे- रक्षा, विदेशी मामले और संचार।
3. उल्लेखित तीन विषयों के अलावा दूसरे मामलों में संवैधानिक परिवर्तनों के लिए उसे राज्य सरकार की सहमति लेना ज़रूरी है।
4. यह सहमति पूरी तरह से 'अस्थाई' होगी और उसे राज्य की संविधान सभा से पुष्ट करना पड़ेगा।
5. सहमति देने का राज्य सरकार का अधिकार केवल तभी तक होगा जब तक राज्य की संविधान सभा की बैठक नहीं बुलाई जाती। न तो संविधान सभा की बैठक बुलाये जाने से पहले सहमति दी जा सकती है न ही उसके भंग हो जाने के बाद। इसका अर्थ यह भी है कि राष्ट्रपति भारतीय संविधान को जम्मू और कश्मीर के संदर्भ में लागू करने के लिए बार-बार आदेश देने के अपने अधिकार को अनंत काल तक प्रयोग नहीं कर सकते। एक बार संविधान सभा का निर्माण हो जाने और उसके द्वारा राज्य के लिए संविधान बना देने के बाद संविधान सभा भंग कर दी जायेगी और उसके बाद राष्ट्रपति का यह अधिकार भी समाप्त हो जाएगा।
6. राष्ट्रपति को इस धारा को हटाने या संशोधित करने का अधिकार है लेकिन इसके लिए भी राष्ट्रपति द्वारा ऐसी अधिसूचना जारी करने से पहले राज्य की संविधान सभा की संस्तुति

लेना आवश्यक है।"[59]

लागू होने से लेकर हटाये जाने तक धारा 370 में समय-समय पर कई संशोधन किये गए हैं। जगमोहन ने अपनी किताब 'अशांत कश्मीर' में धारा 370 में हुए बदलावों का उल्लेख किया है-

- 1954 में इस धारा में संशोधन करते हुए आर्थिक एकीकरण को लागू किया गया जिसके अंतर्गत सीमा-शुल्क, कर, डाक-तार विभाग आदि से संबंधित कानून लागू किये गए।
- 1958 में केंद्रीय सेवाएँ यानी भारतीय प्रशासनिक सेवाएँ, भारतीय पुलिस की नियुक्तियां राज्य में होने लगी।
- 1959 में इस धारा में संशोधन करते हुए जनगणना कानून को लागू किया गया।
- 1960 में उच्च न्यायालय द्वारा दिये गए निर्णय को सर्वोच्य न्यायालय में ले जाने का अधिकार दिया गया।
- बलराज पूरी के अनुसार 1964 में इस धारा में संशोधन करते हुए प्रदेश में धारा 356 और 357 लागू की गई।
- 1966 में लोकसभा सदस्यों द्वारा प्रत्यक्ष मतदान से निर्वाचित प्रतिनिधि भेजने का अधिकार दिया गया और 1966 में ही इस धारा में संशोधन करते हुए राज्य में प्रचलित 'प्रधानमंत्री' और 'सदरे रियासत' की जगह अन्य राज्यों की ही भांति

क्रमशः 'मुख्यमंत्री' और 'राज्यपाल' कर दिया गया।

- 1968 में इस धारा में बदलाव करते हुए चुनाव संबंधी मामलों में सुनवाई के लिए उच्च न्यायालय में अपील का अधिकार दिया गया।
- 1971 में इस धारा में संशोधन करते हुए अनुच्छेद 226 को लागू किया गया।
- 1986 में अनुच्छेद 249 प्रदेश पर लागू किया गया।

उल्लेखनीय है कि 5 अगस्त 2019 को धारा 370 को कश्मीर से हटा दिया गया।

इसके साथ ही 1952 में केंद्र और राज्य के बीच राज्य के अधिकारों के संबंध में दिल्ली समझौता हुआ। पी. एन. के. बम्ज़ाई के अनुसार, "The position of the State in the Union was settled in what is popularly termed as the 'Delhi Agreement' announced on 24 July 1952."[60] इस समझौते में भारत सरकार ने इस बात पर अपनी सहमती दी थी कि कश्मीर को भारतीय संविधान में 'विशेष राज्य' का दर्जा दिया जाएगा। भारतीय संविधान के मौलिक अधिकार राज्य पर भी लागू होंगे। कश्मीर के मौलिक अधिकार, अंतर्राज्य विवाद, सुरक्षा, संचार और विदेशी मामलों को ही सर्वोच्च न्यायालय के अधिकार क्षेत्र में रखा गया। इस समझौते में इस बात पर भी सहमती बनी कि राज्य का अपना झंडा होगा, लेकिन भारत के झंडे का स्थान सर्वोच्च होगा। इसके बाद संविधान में आर्टिकल 35 A जोड़ा गया। जिसके तहत जम्मू-कश्मीर के स्थाई नागरिक होने का अधिकार केवल उन्हें ही मिला जो 1954 के बाद या उसके 10 वर्ष पूर्व से कश्मीर में रह रहे थे।

इस पूरे घटनाक्रम में शेख अब्दुल्ला, जो कश्मीर के लोकप्रिय नेता थे और जिनका प्रभाव कश्मीर पर था, ने पाकिस्तान द्वारा प्रायोजित क़बायली हमलों के विरुद्ध राजा हरिसिंह द्वारा भारत से मदद मांगने और भारत में विलय का समर्थन किया था। अर्थात् इस पूरे मामले में शेख अब्दुल्ला और उनकी पार्टी 'नेशनल कांफ्रेंस' भारत के पक्ष में थी। साथ ही वे यह भी चाहते थे कि अंतिम निर्णय कश्मीरी जनता का ही हो। शेख अब्दुल्ला का यह मत था कि कश्मीर का विलय चाहे भारत में हो या पाकिस्तान में, उसमें कश्मीरी जनता का हित और इच्छा सर्वोपरी होनी चाहिए। 3 अक्तूबर 1947 को अपने भाषण में शेख अब्दुल्ला ने कहा था कि "भारत संघ या पाकिस्तान में शामिल होने का आधार जम्मू और कश्मीर में रहने वाले ४० लाख लोगों का कल्याण है, लेकिन अगर हम पाकिस्तान में मिल भी जाते हैं, तो भी हम दो राष्ट्र के सिद्धांत को नहीं स्वीकार करेंगे।...मैं हिन्दुओं और सिक्खों को आश्वासन देता हूँ कि जब तक मैं जीवित रहूंगा, उनका

जीवन और उनकी इज्जत बिल्कुल सुरक्षित रहेगी।...हम ऐसी सरकार स्थापित करना चाहते हैं जो सभी लोगों को एक समान अवसर दे और जिसमें हर जाति और धर्म फले-फूले।"[61]

शेख अब्दुल्ला द्वारा भारत में कश्मीर के विलय संबंधी निर्णय के समर्थन के दो कारण हो सकते हैं। पहला, वे विलय का निर्णय धर्म के आधार पर लिए जाने के पक्ष में नहीं थे। साथ ही पाकिस्तान की धार्मिक कट्टरता भी उन्हें स्वीकार नहीं थी। अत: कश्मीर की धार्मिक विभिन्नता को सुरक्षित रखने हेतु उन्हें कश्मीर का भारत में विलय बेहतर विकल्प लगा होगा। ऐसे में जब क़बायली हमला हुआ तब राजा हरिसिंह की तरह उनके पास भी एक ही विकल्प रहा होगा, भारत की सहायता स्वीकार करना। दूसरा, जवाहरलाल नेहरू से अपनी मित्रता के कारण उन्हें यह विश्वास होगा कि यदि कश्मीर का भारत में विलय हो जाता है तो भी जवाहरलाल नेहरू उन्हें जम्मू-कश्मीर की राजनीति में महत्वपूर्ण पद देंगे और उनका पूर्ण समर्थन करेंगे। ऐसा हुआ भी, विलय के पश्चात शेख अब्दुल्ला को जम्मू-कश्मीर के प्रधानमन्त्री का पद मिला। बदलते राजनैतिक समीकरणों और आकांक्षाओं के कारण शेख अब्दुल्ला और जवाहरलाल नेहरू के संबंधों में भी दूरी आ गई। जिसका एक स्पष्ट कारण शेख अब्दुल्ला के बदलते भाषण थे। शेख अब्दुल्ला जो पहले कश्मीर के भारत में विलय का समर्थन कर रहे थे अब उनके भाषण बिल्कुल उससे विपरीत थे। वे अपने भाषणों में कश्मीर की आज़ादी का समर्थन करने लगे थे। अशोक कुमार पाण्डेय इस बदलाव के संबंध में कहते हैं, "जिस आजादी को वह खुद 1951 में अव्यवहारिक बता चुके थे अब वह लगातार उस के पक्ष में भाषण दे रहे थे।"[62] जिसका कारण था धारा 370 के लागू होने के साथ ही उसका विरोध किया जाने लगा था। श्यामा प्रसाद मुखर्जी ने 'एक देश में दो विधान/नहीं चलेगा' के नारे साथ इसका विरोध करना आरम्भ किया। साथ ही जम्मू में भी कुछ सांप्रदायिक घटनाएँ घटने लगी थीं। इन्हीं घटनाओं को आधार बनाकर 10 अप्रैल 1952 में रणबीर सिंह पूरा के भाषण में शेख अब्दुल्ला ने कश्मीरी मुसलमानों के प्रति अपनी चिंता व्यक्त करते हुए कहा कि 'कश्मीर ने अपनी आन्तरिक स्वायत्तता और अधिकार को

बनाये रखते हुए केवल रक्षा, विदेश एवं संचार मामलों में ही भारत में विलय स्वीकार किया था। अगर भारत में साम्प्रदायिता बढ़ती है और उनके अधिकारों को चुनौती दी जाती है तो कश्मीर जनता को यह विश्वास कैसे दिलाया जा सकेगा कि भारत उसे निगलने का इरादा नहीं रखता है।' जिन सांप्रदायिक शक्तियों को शेख अब्दुल्ला कश्मीरी मुसलमानों के लिए खतरा मान रहे थे वैसी ही सांप्रदायिकता कश्मीर में भी बढ़ी जिसके कारण कश्मीरी पंडितों का बड़ी संख्या में विस्थापन हुआ और जिसके प्रभाव से कश्मीरी मुसलमान भी अछूते नहीं रह पाए। 1949 में शेख अब्दुल्ला की अमेरिकी राजदूत लांच एंडरसन से मुलाकात करने और कश्मीर को स्वतंत्र कराने के संबंध में सहायता मांगने का आरोप लगा। वहीं 1953 में शेख अब्दुल्ला ने अमेरिकी नेता अडलाई स्टीवेंशन से मुलाकात के बाद कश्मीर की आज़ादी के पक्ष में अपना बयान दिया था। इसके पश्चात 13 जुलाई 1953 को अपने भाषण में शेख अब्दुल्ला ने कहा कि "It was not necessary for Jammu and Kashmir to become an appendage of either India or Pakistan."[63] इन भाषणों के कारण भारत सरकार के साथ तो शेख अब्दुल्ला के संबंध तो खराब होने ही लगे थे, साथ ही उनके मंत्रिमंडल के साथ भी उनका मतभेद होने लगा था। उनके मंत्रिमंडल के सदस्यों द्वारा उनपर प्रशासन को ठीक से न चला पाने और मनमानी करने के आरोप लगाया गया। वहीं दूसरी ओर विदेशी नेताओं से मिलकर कश्मीर की आज़ादी की योजना बनाने का संदेह भी उनपर था ही। इन सभी घटनाओं के कारण तत्कालीन परिस्थितियाँ शेख अब्दुल्ला के विपरीत हो गई और सदरे-रियासत कर्ण सिंह द्वारा "issued an order on 8 August, 1953 dismissing Sheikh Abdullah from the Prime Ministership of the State of Jammu and Kashmir, and dissolving the Council of Ministers headed by him. On 9 August, he invited Bakshi Ghulam Mohammed to form a new government" [64]

8 अप्रैल 1964 को कश्मीर के तत्कालीन प्रधानमंत्री गुलाम मोहम्मद सादिक ने उन्हें जेल से रिहा

कर दिया। इसके बाद पुनः शेख अब्दुल्ला को हज-यात्रा पर जाने के बहाने चाऊ एन लार्ड से मुलाकात करने के आरोप में 8 मई 1965 को गिरफ्तार कर लिया गया। इस गिरफ्तारी के बाद 1968 में शेख अब्दुल्ला जेल से रिहा हुए। मार्च 1972 को देश विरोधी गतिविधियों में सक्रिय होने के आरोप में उन्हें फिर से गिरफ्तार कर लिया गया और 5 जून 1972 को रिहा कर दिया गया। शेख अब्दुला ने अपने ऊपर लगे सभी आरोपों का खंडन किया था, लेकिन कश्मीर के बदलते माहौल, विदेशी नेताओं से उनकी मुलाकात और विलय का पूर्ण समर्थन न करके अपने भाषणों में कश्मीर की आज़ादी का समर्थन जैसी घटनाओं ने शेख अब्दुल्ला और जवाहरलाल नेहरू के मैत्रीपूर्ण संबंधों में एक दरार पैदा कर दी थी। शेख अब्दुल्ला और जवाहरलाल नेहरू के बीच उत्पन्न हुई यह दूरी धीरे-धीरे केंद्र और प्रदेश के बीच की दूरी बनती गई। एक समय था जब कश्मीर मुद्दे पर जवाहरलाल नेहरू एवं उनकी पार्टी और शेख अब्दुल्ला एवं उनकी पार्टी एकमत हुआ करते थे। अब उसी मुद्दे पर उनमें वैचारिक मतभेद उत्पन्न होने लगे थे। दरअसल यह वह समय था कश्मीर पूरी तरह से एक संवेदनशील मुद्दा बन गया था। अत: इससे संबंधित किसी भी घटना अथवा छोटी-सी भी ग़लती को भी नजरंदाज़ नहीं किया जा रहा था। ऐसे में शेख अब्दुल्ला का विदेशी नेताओं से मिलना, आज़ादी के समर्थन में भाषण देना, भारत सरकार के प्रति संदेह व्यक्त करने जैसे व्यवहार को भी नजरंदाज़ नहीं किया गया। परिणामस्वरूप शेख अब्दुल्ला जो क़बायली हमले से लेकर विलय तक भारत सरकार के साथ थे, कई बार गिरफ्तार किए गए।

1972 में शेख अब्दुल्ला के जेल से रिहा होने के बाद भारत सरकार और कश्मीर के मध्य 13 नवम्बर 1974 में 'कश्मीर समझौता' हुआ। इस समझौते पर भारत सरकार के प्रतिनिधि के रूप में जी. पार्थसारथी ने और शेख अब्दुल्ला के प्रतिनिधि के रूप में मोहम्मद अफ़जल बेग ने हस्ताक्षर किया। जिसमें यह तय किया गया कि, "the state of Jammu and Kashmir as a part of the Union of India, which was to continue to be governed by Article 370 of the Indian constitution and have residuary powers of legislation."[65] इस

समझौते के अनुसार कश्मीर को भारत संघ का हिस्सा माना गया जो धारा 370 के अनुसार शासित होगा। यह भी तय हुआ कि भारत की संसद के पास यह अधिकार होगा कि वह भारत के झंडे, राष्ट्रगान एवं संविधान का अपमान होने की स्थिति में उसे रोकने हेतु कानून बना सके। यह समझौता होने के साथ ही शेख अब्दुल्ला 1975 में पुनः कश्मीर के मुख्यमंत्री बने और 1982 में शेख अब्दुल्ला की मृत्यु के बाद उनके बेटे फ़ारुक अब्दुल्ला कश्मीर के मुख्यमंत्री बने।

कश्मीर में होनेवाली हिंसा किसी एक दिन की उपज नहीं थी। बल्कि क्रोध, असंतोष, घृणा और सांप्रदायिकता का भाव लंबे समय से पनप रहा था, जिसे सन् 1987 के चुनाव में हुए धांधली ने और अधिक भड़का दिया। 23 March 1987 में नेशनल कांफ्रेंस और कांग्रेस ने मिलकर कश्मीर में चुनाव लड़ा। चुनाव की इस प्रक्रिया में धांधली होने के आरोप लगे, जिसका लोगों ने बहुत विरोध किया। यह विरोध इतना तीव्र था कि इसकी वजह से कश्मीर का माहौल खराब होने लगा। अशोक कुमार पाण्डेय इस संबंध में लिखते हैं, "नेशनल कांफ्रेंस और कांग्रेस की सरकार शायद बिना धांधली के भी बन सकती थी लेकिन इस धांधली से कश्मीरी जनता का चुनाव होते जो मोहभंग हुआ उसे 1977 में पैदा हुई उम्मीदों को ध्वस्त कर दिया। बड़ी संख्या में कश्मीरी नौजवानों का यह असंतोष अगले दर्शकों के आतंकवादी आंदोलन में परिणत हुआ। यह दशक कश्मीर के इतिहास का सबसे खूनी दशक होना था जिसके निशान तब तक धोए नहीं जा सके हैं।"[66]

चुनाव की प्रक्रिया में धाँधली और विपक्षी दल को पूरी तरह से ख़त्म करने के प्रयास ने कश्मीर के लोकतांत्रिक अधिकारों को आहत किया। इस धांधली, बढ़ती बेरोजगारी, आतंकी हमले और सेना के पहरे के बीच कश्मीरियों का आक्रोश और असंतोष बढ़ता जा रहा था। यह वह दौर था जब कश्मीर में आज़ादी के नारे लगना, रैलियाँ और हड़ताल होना आम घटना हो गई थी। कश्मीर का माहौल पहले से ही खराब होने लगा था और 1989-90 में आतंकवादी गतिविधियाँ भी बढ़ गई थी। ए. एस. दुलत इस दौर के संबंध में कहते हैं "1989-1990 के जाड़ों में श्रीनगर एक

भुतहा शहर जैसा जो युद्ध का आरम्भ देख रहा था। रुबिया सईद के अपहरण ने बगावत का बाँध खोल दिया था। हत्याएँ रोजमर्रा की चीज़ बन गईं थी। बमबाज़ी और फायरिंग अब मुख्यमंत्री के आवास के पास के सबसे सुरक्षित इलाकों में भी होने लगी थी। ट्रकों में बंदूकें लहराते हुए युवा कैंट क्षेत्र के पास दिखाई देने लगे थे।"[67] कश्मीरी जनता में उपजे असंतोष का पूरा फायदा साम्प्रदायिक ताकतों ने उठाया। उनके द्वारा इस असंतोष और आक्रोश को बढ़ावा देते हुए कश्मीरी मुसलामानों को यह विश्वास दिलाया जाने लगा कि वह अब तक शोषण के शिकार रहे हैं जिससे उन्हें मुक्ति जिहाद के माध्यम से ही मिल सकती है।

बलराज पूरी का मानना है कि कश्मीर में पहला आतंकवादी हमला 1988 में हुआ था जिसमें टेलीग्राफ के कार्यालय और टीवी स्टेशन पर बम विस्फोट हुआ था। हालाँकि यह हमला अपने लक्ष्य से चुक गया था। इसके बाद सन् 1989 में कश्मीरी पंडित जिया लाल टपलू और नील कान्त गंजू की हत्या कर दी गई। इन हत्याओं के संबंध में जेकेएलएफ द्वारा यह सफाई दी गई थी कि यह हत्याएँ उनके कश्मीरी पंडित होने के कारण नहीं हुई थी, जेकेएलएफ ने इस हत्या पर स्पष्टीकरण देते हुए कहा था, "Though the JKLF explained that the two were not killed on account of their religion, the murders did cause a scare among the Pandits."[68] लेकिन यह दोनों ही हत्याएँ कश्मीरी पंडितों को भयभीत करने के लिए काफी थी। आतंकवादी संगठनों द्वारा की जानेवाली इन हत्याओं का उद्देश्य कश्मीर में भय का वातावरण फैलाना, कानून व्यवस्था पर प्रहार करना और लोगों के मन में सरकार के प्रति अविश्वास पैदा करना था। उनके निशाने पर हर वह व्यक्ति था जो, चाहे वह किसी भी धर्म का हो, सरकारी (केंद्र) सेवा में था या उनसे सहमत नहीं था अथवा उनके द्वारा फैलाई जानेवाली हिंसा एवं नफरत के स्थान पर शांति से बातचीत किये जाने का पक्षधर था।

8 दिसंबर 1989 को मुफ़्ती मोहम्मद सईद की बेटी रूबिया सईद का आतंकवादियों ने अपहरण कर लिया। रुबिया सईद के अपहरण का देश-विदेश में बहुत विरोध हुआ। कश्मीरी जनता ने भी

इस घटना के प्रति अपना गहरा आक्रोश व्यक्त किया और रुबिया सईद के रिहाई की माँग की। अपहरणकर्ताओं ने रुबिया सईद को आज़ाद करने के बदले कुछ आतंकियों की आज़ादी की माँग रखी थी जिसे भारत सरकार ने पूरा किया। इस पूरी घटना के संबंध में बलराज पूरी का यह मानना है कि रुबिया सईद के अपहरण का आम जनता द्वारा किये गए विरोध ने आतंकियों पर दबाव अवश्य बनाया होगा और शायद वे बिना किसी शर्त रुबिया सईद को छोड़ भी देते क्योंकि रुबिया सईद की हत्या करना या उसे किसी भी तरह का नुकसान पहुँचाना उनके मकसद के लिए भी अच्छा नहीं था और कश्मीरी मुसलामानों के उनके विरुद्ध कर सकता था लेकिन भारत सरकार ने तुरंत ही उनकी शर्तों को मान लिया, जिससे उनके हौसलें और अधिक बढ़ गए। इस घटना पर डॉन (कराची संस्करण) ने लिखा था की यह केवल एक धमकी थी जो काम कर गई।

19 जनवरी 1990 को जगमोहन कश्मीर के राज्यपाल नियुक्त हुए और उनकी इस नियुक्ति के विरोध में फारुख अब्दुल्ला ने इस्तीफा दे दिया। जगमोहन का घाटी में बहुत विरोध हुआ। इसी समय मीरवाइज मौलवी मोहम्मद फारुख की हत्या कर दी गई। उनके समर्थकों को उनकी हत्या का संदेह आतंकवादी संगठनों पर था। उनकी शवयात्रा में बड़ी संख्या में लोग शामिल हुए थे लेकिन इसी बीच अर्धसैनिक बलों द्वारा गोली चलाये जाने की घटना हो गई। गोली मीरवाइज के शव को भी लगी। उनके समर्थकों द्वारा इस घटना का बहुत ही विरोध हुआ एवं उनका क्रोध और अधिक बढ़ गया। चूँकि जगमोहन उस समय कश्मीर के राज्यपाल थे अत: मीरवायज की हत्या में उनकी भूमिका पर अशोक कुमार पांडेय ने लिखा है, "जुलूस के रास्ते और जुलूस पर प्रतिबंध को लेकर भी कुछ भ्रम पैदा करने वाले निर्देश दिए। इन्हीं भ्रमों के चलते अर्द्धसैनिक बलों की एक टुकड़ी ने जुलूस पर तब गोलीबारी शुरू कर दी जब यह अपने गंतव्य मीरवायज़ मंज़िल पहुँचने ही वाला था।"[69] इस घटना के बाद मीरवाइज के समर्थकों में उनकी हत्या के लिए जो आक्रोश आतंकी संगठनों के प्रति था वह अब भारत सरकार के प्रति हो गया। इसी समय आतंकवादियों ने टीवी निर्देशक लस्सा कौल और सूचना अधिकारी पी. एन. हाण्डू की हत्या कर दी।

आतंकवादियों ने बाहरी समाचार पत्रों का भी बहिष्कार करना आरंभ किया ताकि कश्मीर बाहरी दुनियाँ से पूरी तरह कट जाए और सिर्फ वही खबरें कश्मीर पहुँचे जो वे पहुँचाना चाहते हैं। बलराज पूरी लिखते हैं, "While the electronic media lost its credibility, the militants gave a call to boycott newspapers from outside Kashmir. Kashmir's communication links with the rest of India were cut off."[70]

1990 में कश्मीर में आतंकियों और सेना के बीच गोली चलना लगभग रोज की घटना हो गई थी। इस गोलीबारी में कई बार आम नागरिकों को भी गोलियां लगी जिसकी वजह से क्रोध, हिंसा एवं विरोध बढ़ता गया। यह वही वर्ष था जब कश्मीरी पंडितों के लिए कश्मीर का माहौल पूरी तरह बदल गया। 1947 में शेख अब्दुल्ला ने 'एक ऐसी सरकार की स्थापना करने का जिसमें हर जाति और धर्म फले-फूले' का जो आश्वासन दिया था, जो भरोसा दिलाया था वह भरोसा अब टूटने लगा था। 1989-1990 में कश्मीर में आज़ादी के उठने वाले नारों में से कश्मीरी पंडित गायब थे। आज़ादी का यह शोर उनके लिए भय का वातावरण पैदा करने लगा था। ऐसे समय में उनके सामने दो ही रास्ते थे- या तो वे अपना घर छोड़कर चले जाए या वहीं रहकर सब ठीक होने का इंतज़ार करें, लेकिन कश्मीर में माहौल ठीक होने की जगह धीरे-धीरे बिगड़ता ही जा रहा था। कश्मीर के स्वतंत्र रहने पर पाकिस्तान द्वारा हमला करवाना अथवा हमलावरों का साथ देने जैसी तमाम घटनाएं यह सवाल पैदा करती हैं कि अगर कश्मीर आज़ाद हो भी जाता है तो क्या पाकिस्तान उसे आज़ाद रहने देगा? क्योंकि पहले भी हरिसिंह के कश्मीर को स्वतंत्र रखने के प्रयास को उसने विफल कर दिया था। ऐसे और भी कई सवाल थे जो उस दौर में कश्मीरी पंडितों के मन में उठ रहें होंगे। इन सवालों के बीच ही उन्हें अपने भविष्य के लिए जवाब तलाशने थे। इस्लाम के नाम पर जारी आज़ादी की लड़ाई में शामिल होना कश्मीरी पंडितों के लिए संभव नहीं था और न ही उन्हें शामिल करने का कोई प्रयास ही किया गया था। आज़ादी का यह शोर कश्मीरी पंडितों के मन पर, अस्मिता पर और उनके आत्मसम्मान पर प्रहार था। खेमलता वखलू

ने अपना अनुभव साझा करते हुए बताती हैं कि 1990 में एक जुलूस उनके घर के बाहर से भी गुजरा था। गुस्से में नारे लगाते लोग कब खिड़की या दरवाजा तोड़कर उनके घर में घुस जाए यह कहा नहीं जा सकता था। घर के भीतर खिड़की- दरवाजा और बत्तियां बंद कर डरे-सहमें लोग थे और बाहर उत्तेजित, अनियंत्रित और धमकियाँ देती भीड़ थी। मदद की कोई भी उम्मीद नहीं थी क्योंकि कानून-व्यवस्था जैसी कोई चीज़ कश्मीर में नहीं रह गई थी, "They were shouting slogans which impinged on our eardrums and our psyche, like bomb blasts in an air-raid...Allah-O-Akbar... (God is great). Indian Dogs go back!. Bum, bum alive the Indians dogs! What do we want? We want freedom...Indian dogs go back."[71]

इस समय मुख्यमंत्री फ़ारुक अब्दुल्ला ने भी जोश से काम लिया। उनके बयान ने लोगों को और अधिक भड़काया। उनके भाषणों के संबंध में बलराज पूरी ने लिखा है, "The chief minister's response to the emerging situation indicated a sense of bravado rather than maturity. I will bury those people alive who are trying to exploit religious feelings,"[72] फ़ारुक अब्दुल्ला कश्मीरी मुसलमान थे और कश्मीर के सबसे लोकप्रिय नेता शेख अब्दुल्ला के बेटे थे। अगर वे लोगों को समझाते और धैर्य से अपनी बात रखते तो शायद स्थिति इतनी नहीं बिगड़ती। उनके भाषणों ने विद्रोह को दबाने के बजाए और उकसाया। जैसा कि बलराज पूरी कहते हैं, फ़ारुक अब्दुल्ला स्थिति को संभाल नहीं सके थे। फ़ारुक अब्दुल्ला यह समझ नहीं पाए कि ये कोई एक-दो लोग नहीं हैं जो उनके भाषणों से डरकर छुप जाएंगे या जिन्हें ढूँढकर वे जेल में डाल दें और उनके विद्रोह को दबा दें, बल्कि यह एक बड़े जनसमूह द्वारा किया जानेवाला विद्रोह था। जिसमें दो पक्ष शामिल थें- पहला, जिनका गुस्सा भारत सरकार के प्रति उन बातों को लेकर था जो उनके जीवन को प्रभावित कर रही थी और दूसरा, वे जो इस गुस्से का फायदा उठाकर आतंक फैलाने का काम कर रहे थे। सरकार और लोगों

के बीच दूरी पैदा कर रहे थे। ऐसे विकट समय में फ़ारुक अब्दुल्ला ने मुख्यमंत्री पद से इस्तीफा दे दिया।

1990 का दशक न केवल कश्मीर के इतिहास में बल्कि भारत के इतिहास में भी बहुत ही खराब दौर रहा है। यह वह समय था जब कश्मीरी पंडित अपने ही देश में शरणार्थी बनने और अपने बसे-बसाए घर को छोड़कर दूसरों की दया पर जीने को मजबूर हो गए थे। 90 के दशक में विस्थापित कश्मीरी पंडितों का निश्चित 'डेटा' नहीं है। कश्मीरी पंडितों की वेबसाईट पर यह संख्या 4 लाख, C.I.A की रिपोर्ट में यह संख्या 3 लाख बताई गई है तो पी.एल.डी परिमू ढाई लाख बताते हैं लेकिन अगर हम सबसे कम संख्या को भी आधार माने तो भी इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि बिना किसी बड़ी वजह, जो निःसंदेह भय था और अविश्वास था, कोई अपना घर, अपनी संपत्ति छोड़कर नहीं जा सकता है। इस दौरान केवल कश्मीरी पंडितों का नहीं बल्कि कई कश्मीरी मुसलमानों ने भी अपना घर छोड़ा था। पी.एल.डी परिमु ने अपनी किताब में 'कश्मीर एंड-शेर ए कश्मीर: अ रिवोल्यूशन डीरेल्ड' में बताया है कि लगभग 50000 मुसलमानों ने भी घाटी छोड़ी। विस्थापन के आंकड़ों से साथ ही कश्मीर में हुई मौतों के भी आंकड़े मिलते हैं। यह आंकडें केवल संख्या नहीं बल्कि प्रश्न भी है, स्वतंत्र भारत में अपने ही प्रदेश में मारे जानेवाले और घर छोड़ने को मजबूर किये जानेवालों के प्रति किसकी जवाबदेही बनती है? इन्हें सुरक्षा देना, आसरा देना आखिर किसकी ज़िम्मेदारी थी? प्रश्न कई हैं लेकिन उत्तर नहीं है। 1947 से 1990 के बीच घटी इन घटनाओं ने कश्मीर और उसके जीवन को इतना अधिक अशांत बना दिया है। एक शांतिपूर्ण और सुरक्षित माहौल जो कश्मीरियों का अधिकार है उससे वे वंचित कर दिए गए हैं। 1947 में भारत की स्वतंत्रता के साथ ही कश्मीर मुद्दे पर जो विवाद आरंभ हुआ उसने कश्मीर के राजनैतिक इतिहास को और अधिक जटिल एवं विवादित बना दिया है। कश्मीर का इतिहास केवल सत्ता परिवर्तन का नहीं है बल्कि हिंसा, सांप्रदायिकता, संदेह और विस्थापन की पीड़ा का इतिहास भी है और कश्मीर केन्द्रित हिंदी उपन्यासों की पृष्ठभूमि भी है।

संदर्भ:

1. घई, प्रो. वेदकुमारी (अनुवाद) (2016), नीलमत पुराण, जे. एण्ड के. अकैडमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू, पृष्ठ 39

2. विल्सन, एच.एच (1960), द हिन्दू हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर, सुशील गुप्ता (इंडिया) प्राइवेट लिमिटेड, कलकत्ता, पृष्ठ पेज 8-9

3. पाण्डेय, अशोक कुमार (2018), कश्मीरनामा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ 17

4. अकबर, एम.जे. (2011), कश्मीर बिहाइंड द वेल, रोली बुक्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, पृष्ठ 10

5. शर्मा, हेमेन्द्र (सं.) (1987) भारतेंदु समग्र, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, पृष्ठ 708

6. कल्हण (1935), राजतरंगिणी (अनुवाद. रंजित सीताराम पंडित), साहित्य अकादमी, दिल्ली पृष्ठ x

7. कल्हण (2016), राजतरंगिणी (१-६ तरंग) (अनुवाद. श्रुतिदेव शास्त्री), बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, पृष्ठ 1-2

8. वही, पृष्ठ 5-6

9. जोनराज (1972), राजतरंगिणी (अनुवाद. डा. रघुनाथ सिंह), चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, पृष्ठ 358

10. रैणा, डॉ. शिबन कृष्ण (1993), कश्मीरी कवयित्रियाँ और उनका रचना संसार, हिन्दी बुक सेंटर, नई दिल्ली, पृष्ठ 16

11. तोषखानी, शशिशेखर (1985), कश्मीरी साहित्य का इतिहास, जे एंड के. अकैडमी ऑफ़ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेजिज़, जम्मू, पृष्ठ 29

11. कौल, जयालाल (1980) (अनुवाद. शिबन कृष्ण रैना), ललद्यद, साहित्य अकादमी,

दिल्ली, पृष्ठ 14

13. शांत, रतनलाल (2000), कश्मीर: साहित्यिक संदर्भ, निहार प्रकाशन, जम्मू, पृष्ठ 27

14. तोषखानी, शशिशेखर (1985), कश्मीरी साहित्य का इतिहास, जे एंड के. अकैडमी ऑफ़ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेजिज़, जम्मू, पृष्ठ 34-35

15. रैणा, डॉ. शिबन कृष्ण (1993), कश्मीरी कवयित्रियाँ और उनका रचना संसार, हिन्दी बुक सेंटर, नई दिल्ली, पृष्ठ 13

16. वही, पृष्ठ 16

17. शांत, रतनलाल (1979), (सं.) नुन्द ऋषि, जम्मू कश्मीर कला संस्कृति तथा भाषा अकेडेमी, जम्मू, पृष्ठ 13

18. रफ़ीक़ी, अब्दुल कय्यूम (1972) सूफ़ीज़्म इन कश्मीर फ्रॉम द फोर्टीन्थ टू सिक्सटीन्थ सेंचुरी, भारतीय पब्लिशिंग हाउस, इंडिया, पृष्ठ 143

19. वही, पृष्ठ 134

20. वही, पृष्ठ 134

21. तोशखानी, शशिशेखर (1975), कहा था ऋषि ने, जे एंड के. अकैडमी ऑफ़ आर्ट, कल्चर एंड लैंग्वेजिज़, जम्मू, पृष्ठ 1

22. वही, पृष्ठ 61

23. वही, पृष्ठ 48

24. पाण्डेय, अशोक कुमार (2018), कश्मीरनामा, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, पृष्ठ 96

25. शांत, रतनलाल (1979) (सं.), नुन्द ऋषि, जम्मू कश्मीर कला संस्कृति तथा भाषा अकेडेमी, जम्मू, पृष्ठ 69

26. रफ़ीक़ी, अब्दुल कय्यूम (1972) सूफ़ीज़्म इन कश्मीर फ्रॉम द फोर्टीन्थ टू सिक्सटीन्थ सेंचुरी,

भारतीय पब्लिशिंग हाउस, इंडिया, पृष्ठ 207

27. शांत, रतनलाल (1979) (सं.), नुन्द ऋषि, जम्मू कश्मीर कला संस्कृति तथा भाषा अकेडेमी, जम्मू , पृष्ठ 63

28. शर्मा, रामविलास (2018), भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश- भाग 2, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 128

29. पाण्डेय, अशोक कुमार (2018), कश्मीरनामा, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, पृष्ठ 11

30. वही, पृष्ठ 105

31. बम्ज़ाई, पी. एन. के (1994), कल्चरल एंड पॉलीटिकल हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर, वॉल्यूम-3, एम. डी. पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 747

32. वही, पृष्ठ 749

33. कोरबेल, जोसेफ (1954), डेंजर इन कश्मीर, प्रिंसटन यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यू जर्सी, पृष्ठ 46

34. श्रीवास्तव, गोपीनाथ (1969), कश्मीर समस्या और पृष्ठभूमि, राजपाल एंड सन्ज़, दिल्ली, पृष्ठ 36

35. गुप्ता, वीरेन्द्र, बंसल, आलोक (2016) (सं.), पाकिस्तान ऑकुपाइड कश्मीर: द अनटोल्ड स्टोरी, मानस प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ 65

36. श्रीवास्तव, गोपीनाथ (1969), कश्मीर समस्या और पृष्ठभूमि, राजपाल एंड सन्ज़, दिल्ली, पृष्ठ 39-40

37. बम्ज़ाई, पी. एन. के (1994), कल्चरल एंड पॉलीटिकल हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर, वॉल्यूम-3, एम. डी. पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 760

38. पुरी, बलराज (2008), कश्मीर: इंसरजेंसी एंड आफ्टर, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद, पृष्ठ 5

39. बम्ज़ाई, पी. एन. के (1994), कल्चरल एंड पॉलीटिकल हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर, वॉल्यूम-3, एम. डी. पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 750

40. वही, पृष्ठ 750

41. सिंह, कर्ण (1982), हेयर एप्रेन्ट एन ऑटोबायोग्राफी, ऑक्सफ़ोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, दिल्ली, पृष्ठ 41-42

42. वही, पृष्ठ 41

43. इंजिनियर, असग़र अली (1984) (सं.), कम्यूनल राइट्स इन पोस्ट-इंडिपेंडेंट इंडिया, संगम बुक्स, हैदराबाद, पृष्ठ 159

44. श्रीवास्तव, गोपीनाथ (1969), कश्मीर समस्या और पृष्ठभूमि, राजपाल एंड सन्ज़, दिल्ली, पृष्ठ 45

45. बम्ज़ाई, पी. एन. के (1994) कल्चरल एंड पॉलीटिकल हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर, वॉल्यूम-3, एम. डी. पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 752

46. महाजन, मेहर चंद (1963), लुकिंग बैक, एशिया पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृष्ठ 130

47. वही, 270

48. बम्ज़ाई, पी. एन. के (1994), कल्चरल एंड पॉलीटिकल हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर, वॉल्यूम-3, एम. डी. पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 757

49. वही, पृष्ठ 758

50. जॉनसन, एलन कैम्पबेल (1951), मिशन विद माउंटबेटन, जैको पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, पृष्ठ 263

51. पुरी, बलराज (2008), कश्मीर: इंसरजेंसी एंड आफ्टर, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद, पृष्ठ 13

52. पाण्डेय, अशोक कुमार (2018), कश्मीरनामा, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, पृष्ठ 320

53. बम्ज़ाई, पी. एन. के (1994) कल्चरल एंड पॉलीटिकल हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर, वॉल्यूम-3, एम. डी. पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 760

54. वुडबर्ड, लॉर्ड (1956) टू नेशंस एंड कश्मीर, रॉबर्ट हेल लिमिटेड, लन्दन, पृष्ठ 54

55. बम्ज़ाई, पी. एन. के (1994), कल्चरल एंड पॉलीटिकल हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर, वॉल्यूम-3, एम. डी. पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 771

56. पुरी, बलराज (2008), कश्मीर: इंसरजेंसी एंड आफ्टर, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद, पृष्ठ 15

57.https://www.kashmirnewsline.com/nehrus-broadcast-november-2-1947/

58. बम्ज़ाई, पी. एन. के (1994), कल्चरल एंड पॉलीटिकल हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर, वॉल्यूम-3, एम. डी. पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 760

59. पाण्डेय, अशोक कुमार (2018), कश्मीरनामा, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, पृष्ठ 322-323

60. बम्ज़ाई, पी. एन. के (1994), कल्चरल एंड पॉलीटिकल हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर, वॉल्यूम-3, एम. डी. पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, पृष्ठ 807

61. श्रीवास्तव, गोपीनाथ (1969), कश्मीर समस्या और पृष्ठभूमि, राजपाल एंड सन्ज़, दिल्ली, पृष्ठ 46

62. पाण्डेय, अशोक कुमार (2018), कश्मीरनामा, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, पृष्ठ 362

63. स्कोफिल्ड, विक्टोरिया (2000), कश्मीर इन कॅान्फ्लिक्ट, आई. बी. टौरिस, लंदन, न्यू यार्क, पृष्ठ 92

64. बम्ज़ाई, पी.एन.के (1994), कल्चरल एंड पॉलीटिकल हिस्ट्री ऑफ़ कश्मीर, वॉल्यूम-3, एम. डी. पब्लिकेशन प्राइवेट लिमिटेड, पृष्ठ 810

65. पुरी, बलराज (2008), कश्मीर: इंसरजेंसी एंड आफ्टर, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद, पृष्ठ 36

66. पाण्डेय, अशोक कुमार (2018), कश्मीरनामा, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, पृष्ठ 388

67. वही, पृष्ठ 398

68. पुरी, बलराज (2008), कश्मीर: इंसरजेंसी एंड आफ्टर, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद, पृष्ठ 64

69. पाण्डेय, अशोक कुमार (2018), कश्मीरनामा, राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली, पृष्ठ 400

70. पुरी, बलराज (2008), कश्मीर: इंसरजेंसी एंड आफ्टर, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद पृष्ठ 70

71. वखलू, क्षेमलता, वखलू, ओ. एन. (1992), कश्मीर: बिहाइंड द व्हाइट कर्टेन 1972-1991, कोणार्क पब्लिशर्स, दिल्ली, पृष्ठ 2

72. पुरी, बलराज (2008), कश्मीर: इंसरजेंसी एंड आफ्टर, ओरियेंट लॉन्गमैन प्राइवेट लिमिटेड, हैदराबाद पृष्ठ 62